श्रीहरिः

गीताका भक्तियोग

(गीताके बारहवें अध्यायकी विस्तृत व्याख्या)

प्रकाशक
मोतीलाल जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

संवत् २०२० प्रथम संस्करण १०,०००

मूल्य १.२५ (एक रुपया पच्चीस पैसे)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

निवेदन

श्रीमद्भगवद्गीताके प्रचार-प्रसारमें ही आजीवन दत्तचित्त परमश्रद्धेय ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके शब्दोंमें—"श्रीमद्भगवद्गीता साक्षात् भगवान्की दिव्य वाणी है। इसकी महिमा अपार, अपरिमित है। उसका यथार्थ वर्णन कोई नहीं कर सकता। शेष, महेश, गणेश भी इसकी महिमाको पूरी तरह-से नहीं कह सकते; फिर मनुष्यकी तो बात ही क्या है। × × × गीता एक परम रहस्यमय ग्रन्थ है। इसमें सम्पूर्ण वेदोंका सार संग्रह किया गया है। इसकी रचना इतनी सरल और सुन्दर है कि थोड़ा अभ्यास करनेसे भी मनुष्य इसको सहज ही समझ सकता है, परंतु इसका आशय इतना गूढ़ और गम्भीर है कि आजीवन निरन्तर अभ्यास करते रहनेपर भी उसका अन्त नहीं आता। प्रतिदिन नये-नये भाव उत्पन्न होते ही रहते हैं, इससे वह सदा नवीन ही बना रहता है। एवं एकाग्रचित्त होकर श्रद्धा-भक्तिसहित विचार करनेसे इसके पद-पदमें परम रहस्य भरा हुआ प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। भगवान्के गुण, प्रभाव, स्वरूप, तत्त्व, रहस्य और उपासनाका तथा कर्म एवं ज्ञानका वर्णन जिस प्रकार इस गीताशास्त्रमें किया गया है वैसा अन्य ग्रन्थोंमें एक साथ मिलना कठिन है; भगवद्गीता एक ऐसा अनुपमेय शास्त्र है जिसका एक भी शब्द सदुपदेशसे खाली नहीं है। × × × गीता सर्वशास्त्रमयी है। गीतामें सारे शास्त्रोंका

साक्षात् गीताकी मूर्ति है। उसके दर्शन, स्पर्श, भाषण एवं चिन्तनसे भी दूसरे मनुष्य परम पवित्र बन जाते हैं। फिर उसके आज्ञापालन एवं अनुकरण करनेवालोंकी तो बात ही क्या है। वास्तवमें गीताके समान संसारमें यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, संयम और उपवास आदि कुछ भी नहीं है।"

उसी साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे निकली हुई दिव्य वाणी—श्रीमद्भगवद्गीताकी महिमाके सम्बन्धमें स्कन्द-पुराणमें बतलाया गया है—

गीतायास्तु समं शास्त्रं न भूतं न भविष्यति ।
सर्वपापहरा नित्यं गीतैका मोक्षदायिनी ॥

(स्कन्द० वै० कार्तिक० २। ५०)

'गीताके समान कोई शास्त्र न तो हुआ और न होगा। एकमात्र गीता ही सदा सब पापोंको हरनेवाली और मोक्ष देनेवाली है।'

ऐसी अपरिमित प्रभाववाली गीताके 'भक्तियोग' नामक बारहवें अध्यायकी विस्तृत व्याख्या हमारे श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके द्वारा बहुत ही सरलतापूर्वक समझने योग्य की गयी है। यह 'कल्याण'के अङ्कोंमें 'गीताका भक्तियोग' नामसे ही धारा-प्रवाह रूपसे निकल चुकी है। उसीको कुछ संशोधन करके पुस्तकरूपमें प्रकाशित किया जा रहा है। कल्याणकामी, गीताप्रेमी सभी लोग श्रीस्वामीजी महाराजकी इस कृतिसे लाभ उठावें—यह विनम्र प्रार्थना है।

—प्रकाशक

श्रीहरिः

विषय-सूची

—:०:—

श्रीपरमात्मने नमः

अथ द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥
अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

श्रीमुरली मनोहर

श्रीहरिः

गीताका भक्तियोग

(गीताके बारहवें अध्यायकी विस्तृत व्याख्या)

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

सम्बन्ध

भगवान्‌ने चौथे अध्यायके ३३वें, ३४वें और ३८वें श्लोकोंमें ज्ञानप्राप्तिके लिये प्रेरणा दी एवं ज्ञानकी महिमा बतायी, पाँचवें अध्यायके १७वेंसे २६वें श्लोकोंतक निर्गुण-निराकारकी उपासना, छठे अध्यायके २४वेंसे २९वें श्लोकोंतक परमात्माके अचिन्त्य स्वरूपकी उपासना और आठवें अध्यायके ११वेंसे १३वें श्लोकोंतक अव्यक्त अक्षरकी उपासनाका महत्त्व बतलाया ।

छठे अध्यायके ४७वें श्लोकमें अनन्य भक्तिका उद्देश्य लेकर चलनेवाले साधक भक्तकी महिमा बतलायी और सातवें अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायतक जगह-जगह 'अहम्' और 'माम्' पद देकर विशेषरूपसे सगुण-साकार एवं सगुण-निराकारकी उपासनाकी विशेषता दिखलायी और अन्तमें ग्यारहवें अध्यायके ५४वें और ५५वें श्लोकोंमें अनन्य भक्तिकी महिमा एवं फलसहित अनन्य भक्तिके स्वरूपका वर्णन किया। इसपर अर्जुनके मनमें यह जिज्ञासा हुई कि निर्गुण ब्रह्मकी और सगुण भगवान्‌की उपासना करनेवाले आरम्भसे लेकर अन्ततकके सभी समकक्ष साधकोंमें कौन-से साधक श्रेष्ठ हैं? उसी जिज्ञासाको लेकर अर्जुन प्रश्न कर रहे हैं—

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ १॥

भावार्थ

इस श्लोकमें अर्जुनका साकार-निराकारके उपासकोंके बारेमें प्रश्न है। एक ओर (भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य रखकर) भगवान्‌के सगुण-साकाररूपकी उपासना करनेवाले प्रारम्भिक साधनासे लेकर भगवत्प्राप्तिके अत्यन्त समीप पहुँचे हुए सभी साधक हैं और दूसरी ओर उन्हींके समकक्ष (उसी मात्राके विवेक, वैराग्य, इन्द्रियसंयमादि साधन-सम्पत्तिवाले) केवल निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी

ही श्रेष्ठ भावसे उपासना करनेवाले हैं। इन दोनों प्रकारके उपासकोंमें कौन-से श्रेष्ठ हैं?—अर्जुनका यही प्रश्न है।

साकार उपासना करनेवाले इन सभी साधकोंका वर्णन गीताके निम्नलिखित संख्यावाले श्लोकोंमें निम्नाङ्कित पदोंके द्वारा हुआ है—

अध्याय एवं श्लोक	*पद एवं अर्थ*
११ — ५५	मद्भक्तः, मत्परमः, मत्कर्मकृत् (जो मेरा प्रेमी भक्त मेरे परायण और मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्त्तव्य कर्मोंको करनेवाला है)।
६ — ४७	मद्गतेनान्तरात्मना श्रद्धावान् भजते (मुझमें लगे हुए मन-बुद्धिवाला, श्रद्धायुक्त जो साधक निरन्तर मेरा भजन करता है)।
७ — १	मय्यासक्तमनाः मदाश्रयः योगं युञ्जन् (मुझमें अनन्य प्रेमसे आसक्त हुए मनवाला मेरे परायण रहकर मेरे चिन्तनरूपी योगमें लगा हुआ)।
७ —२९-३०	युक्तचेतसः मामाश्रित्य यतन्ति (युक्तचित्तवाले पुरुष मेरे शरण होकर साधन करते हैं)।
८ — ७	मय्यर्पितमनोबुद्धिः (मेरे प्रति अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला)।

८ — १४ अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः (मुझमें अनन्य चित्तसे स्थित हुआ जो सदा ही निरन्तर मेरा स्मरण करता है)।

९ — १४ सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः (दृढ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हैं)।

९ — २२ अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते (अनन्य भावसे मुझमें स्थित हुए जो भक्त-जन मुझ परमेश्वरका निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे उपासना करते हैं)।

९ — ३० भजते मामनन्यभाक् (अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मेरा निरन्तर भजन करता है)।

१० — ९ मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् (निरन्तर मुझमें मन लगाये रखनेवाले, मेरे प्रति ही प्राणोंका अर्पण करनेवाले (भक्तजन) आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए)।

१२ — २ मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते (मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मुझमें लगे हुए जो भक्तजन मेरी उपासना करते हैं)।

१२ — ६ अनन्येनैव योगेन मत्पराः उपासते (अनन्य भक्तियोगके द्वारा ही मेरे परायण हुए भक्तजन निरन्तर मेरी उपासना करते हैं)।

१२ — २० भक्ताः मत्परमाः पर्युपासते (जो भक्त मेरे परायण हुए साधन करते हैं)।

अन्वय

ये भक्ताः एवम् सततयुक्ताः त्वाम् पर्युपासते ।
च ये अक्षरम् अव्यक्तम् अपि तेषाम् योगवित्तमाः के ॥ १ ॥

ये=जो

ग्यारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें भगवान्‌ने 'यः' और 'सः' पद जिस साधकके लिये प्रयोग किये हैं, उसी साधकके लिये—दूसरे शब्दोंमें सगुण-साकार रूपकी उपासना करनेवाले सभी साधकोंके लिये यहाँ 'ये' पद आया है। इसी अध्यायके २रे, ६ठे और २०वें श्लोकोंमें भी 'ये' पद ऐसे ही साधकोंके लिये आये हैं।

भक्ताः=भगवान्‌के प्रेमी

भगवान्‌के सगुण-साकार रूपमें प्रेम रखनेवाले सभी साधकोंका वाचक यह पद है। नवें अध्यायके ३३वें श्लोकमें और इसी अध्यायके २०वें श्लोकमें भी 'भक्ताः' पद साधक भक्तोंके लिये ही आया है।

एवम् सततयुक्ताः=इस प्रकार निरन्तर आपमें लगे हुए

भगवान्में अतिशय श्रद्धावान् साधक भक्तका एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्ति रहनेसे उसकी प्रत्येक क्रियामें (चाहे भगवत्सम्बन्धी जप-ध्यानादि हो, अथवा व्यावहारिक—शारीरिक और आजीविका-सम्बन्धी) उसका नित्य-निरन्तर सम्बन्ध भगवान्से बना रहता है। ऐसे साधक भक्तोंका वाचक 'सततयुक्ताः' पद है।

साधककी यही बड़ी भारी भूल होती है कि वह भगवान्का जप-स्मरण-ध्यानादि करते समय तो अपना सम्बन्ध भगवान्से मानता है और व्यावहारिक क्रियाओंको करते समय अपना सम्बन्ध संसारसे मानता है। इस भूलका कारण समय-समयपर होनेवाली उसके उद्देश्यकी भिन्नता है। जबतक बुद्धिमें धन-प्राप्ति, मान-प्राप्ति, कुटुम्ब-पालनादि भिन्न-भिन्न उद्देश्य बने रहते हैं, तबतक उसका सम्बन्ध निरन्तर भगवान्के साथ नहीं रहता। यदि वह अपने जीवनके एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्तिको भली-भाँति पहचान ले तो उसकी प्रत्येक क्रियाका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही हो जायगा। लोगोंको चाहे ऐसा दीखे कि भगवान्का जप-स्मरण-ध्यानादि करते समय उसका सम्बन्ध भगवान्से है और व्यावहारिक क्रियाओंको करते समय भगवान्से नहीं है; परंतु एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही लक्ष्य रहनेके कारण वह नित्य-निरन्तर भगवान्में लगा हुआ ही है।

क्रियाके ठीक आरम्भमें और अन्तमें यदि साधकको भगवत्स्मृति है तो क्रिया-कालमें भी निरन्तर सम्बन्धात्मक भगवत्स्मृति ही माननी चाहिये।

जैसे किसी व्यापारीको बही-खातेमें जोड़ लगाते समय वृत्तिकी इतनी तल्लीनता है कि मैं कौन हूँ और जोड़ क्यों लगा रहा हूँ—इसका भी ज्ञान नहीं, केवल जोड़के अङ्कोंकी ओर ही ध्यान है; जोड़ प्रारम्भ करनेसे पहले उसके मनमें यह भाव है कि 'मैं अमुक व्यापारी हूँ एवं अमुक कार्यके लिये जोड़ लगा रहा हूँ' और जोड़ समाप्त करते ही यह भाव तुरंत पैदा हो जाता है कि 'मैं अमुक कार्य कर रहा था एवं अमुक व्यापारी हूँ'। अतः जिस कालमें वह तल्लीनतासे जोड़ लगा रहा है उस समय 'मैं अमुक व्यापारी हूँ, अमुक कार्य कर रहा हूँ'—इस भावकी विस्मृति होते हुए भी उसकी वह विस्मृति विस्मृति नहीं मानी जाती।

इसी प्रकार यदि साधकका भी कर्तव्य-कर्मके आरम्भमें और समाप्ति-कालमें भी यह भाव है कि 'मैं भगवान्‌का ही हूँ एवं भगवान्‌के लिये ही कर्तव्य-कर्म कर रहा हूँ', इस भावमें उसकी जरा भी शङ्का नहीं है, तो जब कभी वह कर्तव्य-कर्मोंमें विशेष तल्लीनतासे लगता है, उस समय भगवान्‌की विस्मृति दीखते हुए भी भगवान्‌की विस्मृति नहीं मानी जाती।

त्वाम्=आप सगुणरूप परमेश्वरका

यहाँ 'त्वाम्' पदसे अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके उसी प्रत्यक्ष स्वरूपको लक्ष्य करके कह रहे हैं, जिसको भगवान्ने ग्यारहवें अध्यायके ५२वें श्लोकमें 'इदं रूपम्' पदोंसे, ५३वें और ५५वें श्लोकोंमें 'माम्' पदसे कहा है। फिर भी इस पदसे उन सभी साकार रूपोंको ग्रहण कर लेना चाहिये, जो भक्तोंके इच्छानुसार उन्हें आश्वासन देनेके लिये भगवान् समय-समयपर धारण करते हैं तथा जो रूप भगवान्ने भिन्न-भिन्न अवतारोंमें धारण किये हैं एवं दिव्यधाममें भी जो भगवान्का सगुण रूप विराजमान है—जिसे अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार लोग अनेकों रूपों और नामोंसे युक्त कहते हैं।

पर्युपासते=अविश्रेष्ठ भावसे भजन करते हैं

'पर्युपासते' पदका अर्थ है—परितः उपासते अर्थात् भलीभाँति उपासना करते हैं। जैसे पतिव्रता स्त्री कभी पतिकी सेवामें अपने साक्षात् शरीरको अर्पण करके, कभी पतिकी अनुपस्थितिमें पतिका चिन्तन करके, कभी पतिके सम्बन्धसे सास-ससुर आदिकी सेवा करके एवं कभी पतिके घरका रसोई बनाना आदि कार्य करके सदा-सर्वदा पतिकी ही उपासना कर रही है; वैसे ही साधक भक्त भी कभी मनसे भगवान्में तल्लीन होकर, कभी भगवान्का जप, स्वाध्याय, चिन्तन करके, कभी सांसारिक प्राणियोंको भगवान्के मानकर उनकी सेवा करके एवं कभी

भगवान्‌की आज्ञा समझकर सांसारिक कामोंको करके सदा-सर्वदा भगवान्‌की उपासनामें ही लगा रहता है। ऐसी उपासना ही भलीभाँति उपासना है।

'पर्युपासते' पद यहाँ अतिश्रेष्ठभावसे उपासना करनेवाले साधकोंके सम्बन्धमें आया है। यही पद नवें अध्यायके २२वें श्लोकमें और इसी अध्यायके २०वें श्लोकमें सगुण-साकार उपासनाके सम्बन्धमें आया है। इसी अध्यायके २रे श्लोकमें 'परया श्रद्धया उपासते' (श्रेष्ठ श्रद्धापूर्वक उपासना करते हैं) पदोंसे साकार-उपासकोंकी ही बात भगवान्‌ने कही है। इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें यही पद निर्गुण-निराकारके उपासकोंके लिये आया है और पहले श्लोकके उत्तरार्द्धमें निर्गुण-निराकारके उपासकोंके लिये इसी पदका अध्याहार किया गया है। चौथे अध्यायके २५वें श्लोकमें देवताओंके उपासकोंके लिये इसी पदका प्रयोग किया गया है।

च=और

ये=जो

'ये' पद निर्गुण-निराकारकी ही उपासना करनेवाले साधकोंका वाचक है। अर्जुनने श्लोकके पूर्वार्द्धमें जिस कोटिके सगुण-साकार-उपासकोंके लिये 'ये' पदका प्रयोग किया है, उसी कोटिके निर्गुण-निराकारके उपासकोंके लिये यहाँ 'ये' पदका प्रयोग किया गया प्रतीत होता है। इसी अध्यायके ३रे और

४थे श्लोकोंमें 'ये' और 'ते' पद एवं ५वें श्लोकमें 'तेषाम्' पद निर्गुण-निराकारके साधकोंके लिये आये हैं।

अक्षरम्=अविनाशी

'अक्षरम्' पद अविनाशी सच्चिदानन्दघन परब्रह्मका वाचक है। इसकी विस्तृत व्याख्या इसी अध्यायके ३रे श्लोकमें की जायगी।

अव्यक्तम्=निराकार

जो किसी भी इन्द्रियका विषय नहीं है, उसे 'अव्यक्त' कहते हैं। यहाँ 'अव्यक्तम्' पदके साथ 'अक्षरम्' विशेषण होनेसे यह निर्गुण-निराकार ब्रह्मका वाचक है। इसकी विस्तृत व्याख्या इसी अध्यायके ३रे श्लोकमें की जायगी।

अपि=ही

'अपि' पदसे यहाँ ऐसा भाव प्रतीत होता है कि यहाँ साकार-उपासकोंकी तुलना उन्हीं निराकारके उपासकोंसे है, जो केवल निराकार ब्रह्मको श्रेष्ठ मानकर उपासना करते हैं।

[पर्युपासते=उपासना करते हैं]—(अध्याहार)

तेषाम्=उन दोनोंमें

'तेषाम्' पद यहाँ सगुण और निर्गुण दोनों प्रकारके उपासकोंके लिये आया है। इसी अध्यायके ५वें श्लोकमें 'तेषाम्' पद निर्गुण-उपासकोंके लिये आया है, जब कि ७वें श्लोकमें 'तेषाम्' पद सगुण-साकार-उपासकोंके लिये आया है।

योगवित्तमाः के—अति उत्तम योगवेत्ता कौन-से हैं ?

इन पदोंसे अर्जुनका अभिप्राय यह है कि कौन-से उपासक श्रेष्ठ हैं।

दूसरे अध्यायके २५वें श्लोकमें अव्यक्तको जाननेकी बात कही गयी थी और आठवें अध्यायके ११वें, १२वें, १३वें तथा २१वें श्लोकोंमें अव्यक्त अक्षरकी उपासना बतायी गयी। तदनन्तर ग्यारहवें अध्यायके ५४वें श्लोकमें सगुण-साकार भगवान्‌को भक्तिका विशेष महत्त्व प्रकट किया गया। इसपर अर्जुनने बारहवें अध्यायके आरम्भमें यह प्रश्न किया कि साकार और निराकारके उपासकोंमें कौन श्रेष्ठ है?

इसके उत्तरमें भगवान्‌ने जो वक्तव्य दिया है, उसपर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेसे अर्जुनके इस प्रश्नकी महत्तापर विशेष प्रकाश पड़ता है। इस अध्यायके दूसरे श्लोकसे लेकर चौदहवें अध्यायके २०वें श्लोकतक भगवान् अविराम बोलते चले गये हैं। ७३ श्लोकोंका इतना लंबा प्रकरण गीतामें एक-मात्र यही है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान् यहाँ कोई विशेष रहस्यकी बात प्रकट करना चाहते हैं। साकार-निराकार स्वरूपमें साधकोंको एकताका बोध हो, उन्हें प्राप्त करानेवाले साधनोंका साङ्गोपाङ्ग रहस्य साधकोंके हृदयमें उतर जाय, भक्तोंके आदर्श लक्षण लक्षित हों और त्यागकी सर्वोत्कृष्ट

महत्त्व भलीभाँति समझमें आ जाय—इसी उद्देश्यको सिद्ध करनेमें भगवान्‌की विशेष अभिरुचि जान पड़ती है।

इस उद्देश्यके अनुसार भगवान्‌ने बारहवें अध्यायके ४थे श्लोकमें निराकार-उपासकोंको अपनी प्राप्ति बताकर सगुण-निर्गुण स्वरूपकी तात्त्विक एकता प्रकट कर दी। ८वें श्लोकमें ध्यान तथा ८वेंसे ११वें श्लोकतक क्रमशः अभ्यासयोग, भगवदर्थ कर्म तथा कर्मफल-त्यागरूप साधन बताकर १२वें श्लोकमें अभ्याससे ज्ञानकी, ज्ञानसे ध्यानकी और ध्यानसे भी कर्मफल-त्यागकी श्रेष्ठता बतायी एवं त्यागसे तत्काल शान्तिका प्रतिपादन किया। जब एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही ध्येय हो और भगवान्‌पर अटूट विश्वास बना रहे, तभी हृदयमें वास्तविक त्यागका भाव जाग्रत् होता है।

१३वेंसे १९वें श्लोकतक भगवान्‌ने अपने प्रिय भक्तोंके ३९ लक्षण बताये और २०वेंमें उन आदर्श लक्षणोंको 'धर्म्यामृत'की संज्ञा देकर उन्हें अपनानेवाले साधकोंको अपना अत्यन्त प्रिय बताया है।

इस प्रकार बारहवें अध्यायमें सगुण-साकारके उपासकोंकी श्रेष्ठता, भगवत्प्राप्तिके अनेक साधन तथा भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषोंके लक्षणोंका तो विस्तारसे वर्णन किया गया, किंतु अव्यक्त अक्षर निर्गुणकी उपासनाका विशेष वर्णन नहीं हुआ, अतः उसीका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये

तेरहवें अध्यायका आरम्भ किया गया। इस अध्यायमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ एवं प्रकृति-पुरुषका विवेचन करते हुए १ले श्लोकमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके लक्षणका तथा ७वेंसे ११वें श्लोकोंतक ज्ञानके २० साधनोंका वर्णन किया गया। ज्ञेय तत्त्वका वर्णन करते हुए १४वें श्लोकमें 'निर्गुणं गुणभोक्तृ च' पदोंसे और १६वें श्लोकमें 'भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च' पदोंसे उसी निर्गुण तत्त्वको विष्णु, महेश और ब्रह्मा बतलाया गया। इस प्रकार सगुण-निर्गुण और साकार-निराकारकी तात्त्विक एकता बतायी गयी। १९वें-२०वें श्लोकोंमें प्रकृति-पुरुषके स्वरूपका विवेचन किया गया। तत्पश्चात् २१वें श्लोकमें प्रकृतिजन्य गुणोंके सङ्गको उच्च-नीच योनियोंमें जन्मका कारण बताया गया। प्रकृतिजन्य गुण कौन हैं?—इसका विस्तृत विवेचन चौदहवें अध्यायमें किया गया। गुणोंके स्वरूप, उनके कार्य और उनके द्वारा जीवात्माके बाँधे जानेका प्रकार, तदनुसार जीवकी गति तथा गुणातीत होनेके उपायका वर्णन चौदहवें अध्यायके २०वें श्लोक-तक किया गया।

यहाँतक भगवान्‌के द्वारा दिया जानेवाला उत्तर पूरा हो गया। किंतु २१वें श्लोकमें गुणातीतविषयक तीन प्रश्न अर्जुनने भगवान्‌के सामने रख दिये। गुणातीतके लक्षण क्या हैं, उसका आचरण कैसा होता है? तथा गुणातीत होनेके उपाय कौन-से हैं?—इन प्रश्नोंके उत्तरमें भगवान्‌ने २२वें और २३वें

श्लोकोंमें गुणातीतके निर्विकारतारूप लक्षण बताकर २४वें और २५वें श्लोकोंमें उसके समतापूर्वक आचरणका वर्णन किया। फिर २६वें श्लोकमें अव्यभिचारी भक्तियोगको गुणातीत होनेका उपाय बताया। तत्पश्चात् २७वें श्लोकमें अपनेको ब्रह्म, अमृत, शाश्वतधर्म तथा एकान्तसुखकी प्रतिष्ठा (अधिष्ठान) निरूपित किया।

तेरहवें अध्यायमें भक्तियोगसे युक्त अन्यान्य साधनोंका वर्णन कर चौदहवें अध्यायमें भगवान्‌ने अकेली अव्यभिचारिणी भक्तिसे तीनों गुणोंका अतिक्रम सम्भव बताया। इस प्रकार उन्होंने भक्तियोगकी सर्वश्रेष्ठताका सुस्पष्ट प्रतिपादन किया।

अव्यभिचारी भक्तियोगको गुणातीत होनेका उपाय बताकर पंद्रहवें अध्यायमें (१) भजनीय परमात्मा, (२) भक्त जीवका स्वरूप तथा (३) व्यभिचार—संसारका त्याग—इन तीन विषयोंके विवेचनरूप इस गुह्यतम शास्त्रमें भगवान्‌ने अपनेको क्षरसे अतीत और अक्षरसे भी उत्तम—पुरुषोत्तम बताया। यह है भजनीय परमेश्वरका स्वरूप, जिसका भजन करके मनुष्य अनन्य भक्ति प्राप्त कर सकता है। अनन्य भक्तिभावसे भजन करने और न करनेवाले लोग कौन हैं?—यह बतानेके लिये सोलहवें अध्यायका आरम्भ हुआ है। इसमें भगवान्‌ने फलसहित दैवी और आसुरी सम्पदाका वर्णन करते हुए आसुरी सम्पदावाले मनुष्योंके लक्षण एवं उनकी अधोगतिका विस्तारसे वर्णन करके

अन्तमें आसुरी सम्पत्तिके मूलभूत, नरकके द्वार काम, क्रोध और लोभको त्यागनेकी प्रेरणा दी। सोलहवें अध्यायके २३वें श्लोकमें शास्त्रविधिको त्यागकर मनमाना आचरण करनेवालेको सुख, सिद्धि एवं परमगतिकी प्राप्तिका निषेध किया एवं शास्त्रानुकूल आचरण करनेके लिये प्रेरणा दी।

यह सुनकर अर्जुनके मनमें यह जिज्ञासा हुई कि जो लोग शास्त्रोंमें श्रद्धा तो रखते हैं, किंतु शास्त्रविधिकी अनभिज्ञताके कारण उसका उल्लङ्घन कर बैठते हैं, उनकी क्या स्थिति है? इस प्रश्नके उत्तरमें सत्रहवें अध्यायमें भगवान्‌ने अन्तःकरणके अनुरूप त्रिविध श्रद्धाका विवेचन करते हुए श्रद्धाके अनुसार ही निष्ठा बतायी। श्रद्धेय वस्तुके अनुसार तीन प्रकारके पूजकोंकी निष्ठाका निर्णय करके निष्ठावान्‌की परीक्षाके लिये त्रिविध स्वाभाविक आहारका तथा स्वभावके ही अनुसार त्रिविध यज्ञ, दान और तपविषयक अभिरुचिका वर्णन किया। इस वर्णनका उद्देश्य यह है कि लोग सात्त्विक आहार आदिको ग्रहण करें तथा राजस एवं तामसका परित्याग करें। अन्तमें सत्कर्मोंमें सम्भावित अङ्ग-वैगुण्य (अथवा त्रुटि) की पूर्तिके लिये भगवान्‌के तीन नाम बताये और २८वें श्लोकमें अश्रद्धापूर्वक किये गये सब कर्मोंको 'असत्' कहकर अध्यायकी समाप्ति कर दी।

यद्यपि अर्जुनके मूल प्रश्नका उत्तर चौदहवें अध्यायके २०वें श्लोकतक भगवान्‌ने दे दिया था, तथापि उत्तरमें कथित

विषयको लेकर अर्जुनने जो अवान्तर प्रश्न कर दिये, उनके उत्तरमें यहाँतक (सत्रहवें अध्यायतक) का विवेचन चला। इसके आगेका प्रकरण तीसरे अध्यायके ३रे श्लोकमें बतायी हुई दो निष्ठाओंके विषयमें अर्जुनके प्रश्नको लेकर चला है। उपर्युक्त विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भगवान्‌के हृदयमें जो जीवोंके लिये परम कल्याणकारी, अत्यन्त गोपनीय और उत्तमोत्तम भाव थे, उनको व्यक्त करनेका श्रेय भगवत्प्रेरित अर्जुनके इस प्रश्नको ही है।

सम्बन्ध

अर्जुनके उपर्युक्त प्रश्नके उत्तरमें भगवान् निर्णय देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

भावार्थ

श्रीभगवान् कहते हैं कि मुझमें ही मनको तन्मय करके, नित्य-निरन्तर जो साधक परम श्रद्धासे मेरे सगुण-साकार रूपकी उपासना करते हैं, वे मुझे केवल निर्गुण-निराकारके उपासकोंकी अपेक्षा ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण योगियोंसे (मेरी प्राप्तिके अन्य भिन्न-भिन्न साधनोंका अवलम्बन करनेवाले हठयोगी, राजयोगी, लययोगी आदि योगियोंकी अपेक्षा) अत्युत्तम योगी मान्य हैं।

उनके साधनकी मैं रक्षा करता हूँ। मेरी प्राप्तिके सर्वश्रेष्ठ साधनको धारण करनेके कारण मेरे मतमें वे ही वास्तवमें योगवेत्ता हैं।

भगवान्‌ने ठीक यही निर्णय अर्जुनको छठे अध्यायके ४७वें श्लोकमें बिना पूछे ही दे दिया था, किंतु उस विषयमें अर्जुनका अपना प्रश्न न होनेके कारण वे उस निर्णयको पकड़ नहीं पाये थे। इसीलिये इस अध्यायके पहले श्लोकमें उनको प्रश्न करना पड़ा।

इसी प्रकार साधकोंके मनमें किसी विषयको जाननेकी पूरी अभिलाषा और उत्कण्ठाकी कमीसे तथा अपना प्रश्न न होनेके कारण साधारणतया सत्सङ्गमें सुनी हुई और शास्त्रोंमें पढ़ी हुई साधन-सम्बन्धी मार्मिक और महत्त्वपूर्ण बातें भी वे पकड़ नहीं पाते। यदि उनके प्रश्नके उत्तरमें वही बात कही जाती है तो वे उसे अपने लिये विशेष बात समझते हैं और विशेषतासे पकड़ लेते हैं। साधारणतया सुनी हुई और पढ़ी हुई बातोंको अपने लिये न समझकर उसकी उपेक्षा कर देते हैं, यद्यपि सामान्यतया उस बातके संस्कार तो रहते ही हैं।

अन्वय

नित्ययुक्ताः मयि मनः आवेश्य परया श्रद्धया उपेताः माम् ये उपासते ते मे युक्ततमाः मताः ॥ २ ॥

नित्ययुक्ताः मयि मनः आवेश्य परया श्रद्धया उपेताः माम् ये उपासते—मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मुझमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझ सगुणरूप परमेश्वरको उपासना करते हैं।—इन पदोंसे भगवान्‌ने मुख्य चार बातें बतलायी हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(१) नित्ययुक्ताः (स्वयंका लगना)।

(२) मयि मनः आवेश्य (मनका लगना)।

(३) परया श्रद्धया (श्रेष्ठ श्रद्धाका होना अर्थात् सम्यक् धारणाका होना) और

(४) माम् उपासते (निरन्तर मेरी उपासना करना)।

श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निरन्तर भजन तभी होगा, जब साधक स्वयं भगवान्‌में लगेगा। स्वयंका लगना यही है कि साधक अपने-आपको केवल भगवान्‌का ही समझे। नवें अध्यायके ३०वें श्लोकमें 'अनन्यभाक् भजते' (अन्यको नहीं भजता) पदोंसे साधकका यही निश्चय स्वयंमें है कि 'मैं अन्यका नहीं, किंतु केवल भगवान्‌का ही हूँ।'

मन वहीं लगेगा, जहाँ प्रेम होगा। जिसमें प्रेम होता है, उसीका चिन्तन होता है और उसीका वह सङ्ग चाहता है।

साधककी धारणा वहीं होगी, जिसको वह सर्वश्रेष्ठ समझेगा। बुद्धि लगनेपर अर्थात् परमश्रद्धा होनेपर वह अपनेद्वारा निर्णीत

सिद्धान्तके अनुसार जीवन बनायेगा (सिद्धान्तसे कभी विचलित नहीं होगा)।

निरन्तर उपासनाका तात्पर्य है—निरन्तर भजन। अर्थात् नामजप, चिन्तन, ध्यान, सेवा-पूजा, भगवदाज्ञा-पालन—यहाँतक कि सम्पूर्ण क्रियामात्र ही भगवान्‌की उपासना है।

शरीर प्रकृतिका अंश है और जीव परमात्माका अंश है (गीता १४। ३-४), 'ममैवांशो जीवलोके'—'इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही अंश है' (गीता १५।७)। प्रकृतिकी ओर वृत्ति न रखकर केवल भगवान्‌की ओर वृत्ति रखनेवाला ही यह कहेगा कि 'मैं भगवान्‌का हूँ।' 'मैं भगवान्‌का हूँ' कहनेवाला कोई नया सम्बन्ध भगवान्‌से नहीं जोड़ता। चेतन और नित्य होनेके कारण जीवका और भगवान्‌का स्वतःसिद्ध नित्य सम्बन्ध है और सदा ही रहेगा। इस सम्बन्धको अखण्डरूपसे जगाये रखना ही इस उक्तिका लक्ष्य है।

प्रायः साधारण मनुष्योंका जडताकी ओर ही मुख रहता है। जडताकी ओर मुख होनेके कारण जीव 'मैं'पनका सम्बन्ध शरीरसे जोड़ लेता है; अर्थात् 'मैं शरीर हूँ' यह मान लेता है। फिर शरीरके साथ सम्बन्ध रहनेसे ही वर्ण, आश्रम, जाति, नाम, व्यवसाय और बाल्यादि अवस्थाओंको वह बिना याद किये भी अपनी ही मानता रहता है, अर्थात् उन्हें कभी भूलता ही नहीं।

जब भ्रमसे जडके साथ माने हुए सम्बन्धकी भावना भी इतनी दृढ़ रहती है कि किसी अवस्थामें भी जीव उसे भूलता नहीं, तो फिर स्वयं चेतन और नित्य होते हुए यदि वह अपने सजातीय एवं नित्य रहनेवाले परमात्माके साथ अपने सच्चे सम्बन्धको पहचान ले तो किसी अवस्थामें भी परमात्माको कैसे भूल सकता है? इसलिये उसे सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते हर समय प्रत्येक अवस्थामें ही भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन स्वभावतः होगा, करना नहीं पड़ेगा।

जिस साधकका उद्देश्य सांसारिक भोगोंका संग्रह और उनसे सुख लेना नहीं है, किंतु एकमात्र परमात्माकी प्राप्ति ही है, उस साधकके द्वारा 'मैं भगवान्‌का हूँ' इस सम्बन्धकी पहचान प्रारम्भ हो गयी और इस पहचानको पूर्णतामें उसके अंदर अहंकार, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीरादिके द्वारा सांसारिक भोगोंसे अर्थात् प्रकृतिसे सुख लेनेकी इच्छा बिल्कुल नहीं रहेगी। केवल एकमात्र भगवान्‌का होते हुए भी जितने अंशमें वह प्रकृतिसे सुख-भोग प्राप्त करना चाहता है, उतने अंशमें उसने इस सम्बन्धको दृढ़तासे पकड़ा नहीं है। उसका उतने अंशमें प्रकृतिकी ओर ही मुख है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह प्रकृतिसे विमुख होकर अपने-आपको केवल भगवान्‌का ही माने।

सातवें अध्यायके १७वें श्लोकमें 'नित्ययुक्तः' पद सिद्ध भक्तका वाचक है, आठवें अध्यायके १४वें श्लोकमें 'नित्ययुक्तस्य' पद और नवें अध्यायके १४वें श्लोकमें 'नित्ययुक्ताः' पद साधक भक्तोंका वाचक है एवं सातवें अध्यायके ३०वें श्लोकमें 'युक्तचेतसः' पद साधक भक्तोंके लिये आया है।

मयि मनः आवेश्य=मेरे सगुण-साकार रूपमें मनको लगा करके

चौथे अध्यायके १०वें श्लोकमें 'मन्मयाः' पदसे, छठे अध्यायके १४वें श्लोकमें तथा अठारहवें अध्यायके ५७वें और ५८वें श्लोकोंमें 'मच्चित्तः' पदसे, सातवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'मय्यासक्तमनाः' पदसे, आठवें अध्यायके ७वें श्लोकमें तथा इसी अध्यायके १४वें श्लोकमें 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' पदसे, नवें अध्यायके ३४वें श्लोकमें तथा अठारहवें अध्यायके ६५वें श्लोकमें 'मन्मना भव' पदोंसे, दसवें अध्यायके ९वें श्लोकमें 'मच्चित्ताः' पदसे और इसी अध्यायके ८वें श्लोकमें 'मय्येव मन आधत्स्व' पदोंसे भगवान्‌में मन लगानेके लिये ही कहा गया है। अथवा ये पद उनके लिये आये हैं, जिनका मन भगवान्‌में लगा हुआ है।

माम् ये उपासते=मेरे सगुणरूपकी जो उपासना करते हैं,

यहाँ 'ये' पद सगुण-उपासकोंके लिये आया है। नवें अध्यायके १४वें श्लोकमें और इसी अध्यायके छठे श्लोकमें

'उपासते' पद सगुण भगवान्‌की उपासनाके लिये आया है, नवें अध्यायके १५वें श्लोकमें 'उपासते' पद निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाके लिये आया है और तेरहवें अध्यायके २५वें श्लोकमें 'उपासते' पद गुरुजनों और महापुरुषोंके आज्ञानुसार साधना करनेके लिये आया है।

ते मे युक्ततमाः मताः=वे मुझे अत्युत्तम योगी मान्य हैं।

भगवान्‌ने इसी अध्यायके २०वें श्लोकमें सगुण-उपासकोंको 'अतीव मे प्रियाः' (मेरे अत्यन्त प्यारे हैं) कहा है और जो भगवान्‌के प्यारे हैं, वे ही तो श्रेष्ठ हैं।

आठवें अध्यायके १४वें श्लोकमें 'तस्याहं सुलभः' पदसे सगुण-उपासकोंके लिये भगवान्‌ने अपनेको सुलभ बताया है और पाँचवें अध्यायके ६ठे श्लोकमें 'नचिरेण' पदसे एवं इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें 'नचिरात्' पदसे भक्तोंको अपनी प्राप्ति शीघ्रता-पूर्वक बतलायी है।

ग्यारहवें अध्यायके ५४वें श्लोकमें भगवान् कह चुके हैं कि 'अनन्यभक्तिके द्वारा साधक मुझे देख सकता है, तत्त्वसे जान सकता है और प्राप्त कर सकता है'; परंतु अठारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें निर्गुण-उपासकोंके लिये अपनेको केवल तत्त्वसे जानने और प्राप्त करनेकी ही बात कही है, उन्हें दर्शन देनेकी बात नहीं कही। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि

सगुण-उपासकोंको भगवान्‌के दर्शन भी होते हैं, यह उनकी विशेषता है।

छठे अध्यायके ४७वें श्लोकमें भगवान्‌ने अपने सगुणरूपमें श्रद्धा-प्रेम रखनेवाले साधकको सम्पूर्ण योगियोंसे श्रेष्ठ बतलाया। इसका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌को भक्तिका साधन ही विशेष प्रिय है। भगवान्‌में प्रेम होनेसे उसका भगवान्‌के साथ नित्य-निरन्तर प्रेम रहता है, कभी वियोग होता ही नहीं। इसलिये भगवान्‌के मतमें भक्त ही वास्तवमें उत्तम योगवेत्ता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भक्तकी इन विशेषताओंको लेकर ही भगवान् सगुण-उपासकोंको इन पदोंसे सर्वोत्तम योगी बतलाते हैं।

यहाँ 'ते मे युक्ततमाः मताः' बहुवचनान्त पद देकर जो बात कही गयी है, वही बात छठे अध्यायके ४७वें श्लोकमें 'स मे युक्ततमो मतः' एकवचनान्त पद देकर कही जा चुकी है।

सम्बन्ध

पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने सगुण-उपासकोंको सर्वोत्तम योगी बतलाया, इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि क्या निर्गुण-उपासक सर्वोत्तम योगी नहीं हैं? इसपर श्रीभगवान कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ २ ॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

भावार्थ

इन श्लोकोंमें भगवान्‌ने निर्गुण-उपासनाके विषयमें चार बातें बतलायी हैं—(१) निर्गुण-तत्त्वका स्वरूप क्या है ? (२) साधक स्वयं क्या है ? (३) उपासनाका स्वरूप क्या है ? और (४) साधक प्राप्त क्या करता है ?

अर्जुनने पहले श्लोकके उत्तरार्द्धमें जिस निर्गुण-तत्त्वके लिये 'अक्षरम्' और 'अव्यक्तम्'—दो विशेषण देकर प्रश्न किया था, उसी तत्त्वका विस्तारसे वर्णन करनेके लिये भगवान्‌ने छः विशेषण और दिये, अर्थात् कुल आठ विशेषण दिये, जिनमें पाँच निषेधात्मक (अक्षरम्, अनिर्देश्यम्, अव्यक्तम्, अचिन्त्यम् और अचलम्) तथा तीन विधेयात्मक (सर्वत्रगम्, कूटस्थम् और ध्रुवम्) हैं।

निर्गुण-तत्त्वका कभी 'क्षरण' अर्थात् नाश नहीं होता, इसलिये वह 'अक्षर' है; वाणीसे, संकेतसे अथवा उपमाके द्वारा किसी प्रकार भी उसका स्वरूप कहा और समझाया नहीं जा सकता, इसलिये 'अनिर्देश्य' है; किसी भी इन्द्रियका विषय न होनेसे अर्थात् निराकार होनेसे 'अव्यक्त' है; मन-बुद्धिके चिन्तनसे सर्वथा परे होनेके कारण 'अचिन्त्य' है; हिलने और

चलनेकी क्रियाओंसे रहित होनेके कारण 'अचल' है; सभी देश, काल, वस्तुओंमें परिपूर्ण होनेसे 'सर्वत्रग' है; सबमें रहते हुए भी निर्विकार होनेके कारण 'कूटस्थ' है और उसकी सत्ता निश्चित और नित्य होनेके कारण वह ध्रुव है।

सब देश, काल, वस्तु और व्यक्तियोंमें परिपूर्ण तत्त्वपर दृष्टि रहनेसे निर्गुण-उपासकोंकी सबमें समबुद्धि होती है। देहाभिमानके कारण एवं भोगोंकी सत्ता माननेसे ही भोग भोगनेकी इच्छा होती है और भोग भोगे जाते हैं, परंतु इन निर्गुण-साधकोंकी दृष्टिमें परमात्माके सिवा दूसरी वस्तु उपादेय न रहनेसे उनके इन्द्रियसंयम होता है। सबमें आत्मबुद्धि होनेके कारण उनकी सब प्राणियोंके हितमें रति रहती है, इसलिये वे 'सर्वभूतहिते रताः' हैं।

साधककी हर समय उस तत्त्वकी ओर दृष्टिका रहना ही 'उपासना' है। भगवान् कहते हैं कि 'ऐसे साधकोंको जो निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, वह मेरी ही प्राप्ति है; क्योंकि ब्रह्म मैं ही हूँ।' (गीता १४। २७)

अन्वय

तु ये इन्द्रियग्रामम् संनियम्य अचिन्त्यम् सर्वत्रगम् अनिर्देश्यम् च कूटस्थम् ध्रुवम् अचलम् अव्यक्तम् अक्षरम् पर्युपासते सर्वभूतहिते रताः सर्वत्र समबुद्धयः ते माम् एव प्राप्नुवन्ति ॥ ३–४ ॥

तु=और

'तु' पद यहाँ ,साकार-उपासकोंसे निराकार-उपासकोंकी भिन्नता दिखलानेके लिये आया है। जैसे इसी अध्यायके २०वें श्लोकमें 'तु' पद सिद्ध भक्तोंके प्रकरणसे साधक भक्तोंके प्रकरणका पार्थक्य करनेके लिये आया है।

ये=जो

तीसरे श्लोकमें 'ये' एवं चौथे श्लोकमें 'ते' पद निर्गुण ब्रह्मके उपासकोंके वाचक हैं।

इन्द्रियग्रामम् संनियम्य = इन्द्रियोंके समुदायको अच्छी प्रकार वशमें करके

'संनियम्य' पदमें 'सम्' और 'नि' दो उपसर्ग देकर भगवान्ने बताया कि इन्द्रियोंको एक तो सम्यक् प्रकारसे एवं दूसरे सभीको पूर्णतः वशमें करे, जिससे वे किसी ओर भी न जायँ। यदि इन्द्रियाँ अच्छी प्रकारसे पूर्णतः वशमें नहीं होंगी तो निर्गुणकी उपासना कठिन होगी। सगुण-उपासनामें तो ध्यानका विषय सगुण भगवान् होनेसे इन्द्रियाँ भगवान्में लग जायँगी; क्योंकि इन्द्रियोंको भगवान्के सगुण स्वरूपमें अपने विषय प्राप्त हो जाते हैं। अतएव सगुण-उपासनामें इन्द्रियसंयमके प्रयत्नकी आवश्यकता होते हुए भी उतनी अधिक आवश्यकता नहीं है, जितनी निर्गुण-उपासनामें है; क्योंकि निर्गुण-उपासनामें चिन्तनका कोई आधार न रहनेसे इन्द्रियोंका सम्यक् संयम हुए

बिना विषयोंमें मन जा सकता है और विषयोंका चिन्तन होकर साधकके पतनकी ओर जानेकी विशेष सम्भावना रहेगी (गीता २ । ६२-६३) । अतः सभी इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाते हुए सम्यक् प्रकारसे पूर्णतः वशमें करना है । इन्हें केवल बाहरसे ही वशमें नहीं करना है, अपितु साधकको चाहिये कि विषयोंके प्रति उसके अन्तरका राग भी न रहे; क्योंकि जबतक विषयोंमें राग है तबतक ब्रह्मकी प्राप्ति कठिन है (गीता ६ । ३६; १५ । ११) ।

दूसरे अध्यायके ६८वें श्लोकमें 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः निगृहीतानि' पदोंसे, चौथे अध्यायके २१वें श्लोकमें 'यतचित्तात्मा' पदसे, पाँचवें अध्यायके ७वें श्लोकमें 'विजितात्मा, जितेन्द्रियः' पदोंसे, छठे अध्यायके ७वें श्लोकमें 'जितात्मनः' पदसे और ८वें श्लोकमें 'विजितेन्द्रियः' पदसे सिद्ध महापुरुषोंकी अच्छी प्रकारसे जीती हुई इन्द्रियोंका वर्णन हुआ है ।

यहाँ यह बात समझ लेनेकी है कि 'आत्मा' पद गीतामें शरीरके लिये, मन-बुद्धिके लिये और मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसहित शरीरके लिये भी आया है । अतः जहाँ आत्माको वशमें करनेकी बात है, वहाँ प्रसङ्गके अनुकूल ही अर्थ ले लेना चाहिये ।

दूसरे अध्यायके ६१वें श्लोकमें 'सर्वाणि संयम्य' पदोंसे और ६४वें श्लोकमें 'रागद्वेषवियुक्तैः इन्द्रियैः' पदोंसे, तीसरे अध्यायके ७वें श्लोकमें 'मनसा इन्द्रियाणि नियम्य' पदोंसे, चौथे अध्यायके २६वें श्लोकमें 'श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि संयमाग्निषु'

पदोंसे और २७वें श्लोकमें 'सर्वाणीन्द्रियकर्माणि''''''आत्मसंयम-योगाग्नौ' पदोंसे तथा ३९वें श्लोकमें 'संयतेन्द्रियः' पदसे, पाँचवें अध्यायके २८वें श्लोकमें 'यतेन्द्रियमनोबुद्धिः' पदसे, छठे अध्यायके ६ठे श्लोकमें 'आत्मना जितः' पदोंसे, १२वें श्लोकमें 'मनः एकाग्रं कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः' पदोंसे, १४वें श्लोकमें 'मनः संयम्य' पदोंसे, २४वें श्लोकमें 'इन्द्रियग्रामं विनियम्य' पदोंसे और ३६वें श्लोकमें 'वश्यात्मना' पदसे, आठवें अध्यायके १२वें श्लोकमें 'सर्वद्वाराणि संयम्य' पदोंसे, १३वें अध्यायके ७वें श्लोकमें 'आत्मविनिग्रहः' पदसे, सोलहवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'दमः' पदसे और अठारहवें अध्यायके ५२वें श्लोकमें 'यतवाक्कायमानसः' पदसे इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये साधकोंको प्रेरणा दी गयी है।

तीसरे अध्यायके ६ठे श्लोकमें 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य' पद दम्भाचारीके द्वारा हठपूर्वक इन्द्रियोंके रोके जानेके विषयमें आये हैं। वहाँ 'संयम्य' पद इन्द्रियोंको विषयोंसे हठपूर्वक रोकनेके लिये आया है, न कि इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये।

अचिन्त्यम्=मन-बुद्धिसे परे

मन-बुद्धिके चिन्तनसे सर्वथा परे होनेके कारण 'अचिन्त्यम्' पद निर्गुण-निराकार ब्रह्मका वाचक है। दूसरे अध्यायके २५वें श्लोकमें 'अचिन्त्यः' पद आत्माके स्वरूपके वर्णनमें आया है

और आठवें अध्यायके ९वें श्लोकमें 'अचिन्त्यरूपम्' पद सगुण-निराकारका वाचक है।

सर्वत्रगम्=सर्वव्यापी

सभी देश, काल, वस्तु और व्यक्तियोंमें परिपूर्ण होनेसे ब्रह्म सर्वव्यापी है। नवें अध्यायके ६ठे श्लोकमें 'सर्वत्रगः' पद दृश्यजगत्में सर्वत्र विचरनेवाली वायुका विशेषण है।

अनिर्देश्यम्=जिसका संकेत न किया जा सके

इदंतासे जिसे नहीं बताया जा सकता अर्थात् जो भाषा, वाणी आदिका विषय नहीं है, वह 'अनिर्देश्य' है। निर्देश अर्थात् संकेत उसीका किया जा सकता है, जो जाति, गुण, क्रिया एवं सम्बन्धसे युक्त हो एवं देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिसे परिच्छिन्न हो; किंतु जो तत्त्व सर्वत्र परिपूर्ण हो, उसका संकेत कैसे किया जाय।

च=और

कूटस्थम्=सदा एकरस रहनेवाला

यह पद नित्य, निर्विकार, सदा एकरस रहनेवाले सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका वाचक है। सभी देश, काल, वस्तु और व्यक्तियोंमें रहते हुए भी उस तत्त्वमें निर्विकारता और निर्लेपता है। वह तत्त्व जैसा है, वैसा ही रहता है। उसमें कभी, किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता। इसलिये वह 'कूटस्थ' है। छठे अध्यायके

८वें श्लोकमें 'कूटस्थः' पद निर्विकार ज्ञानी महात्माओंका वाचक है और पंद्रहवें अध्यायके १६वें श्लोकमें 'कूटस्थः' पद जीवात्माका वाचक है।

ध्रुवम्=नित्य

जिसकी सत्ता निश्चित और नित्य है, उसे 'ध्रुव' कहते हैं। सच्चिदानन्दघन ब्रह्म सत्तारूपसे सर्वत्र विराजमान रहनेसे 'ध्रुव' है। आठ विशेषणोंमें सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषण 'ध्रुवम्' ही है, क्योंकि वह सत्तारूपसे सदा सर्वत्र है और उसका कभी अभाव है ही नहीं। दूसरे अध्यायके २७वें श्लोकमें 'ध्रुवः' और 'ध्रुवम्' पद 'निश्चित' अर्थके बोधक हैं।

अचलम्=अचल

हिलने-डुलने-चलनेकी क्रियासे सर्वथा रहित सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका वाचक 'अचलम्' पद है। दूसरे अध्यायके २४वें श्लोकमें 'अचलः' पद जीवात्माके लक्षणोंमें आया है और ५३वें श्लोकमें 'अचला' पद बुद्धिकी स्थिरताका बोधक है; छठे अध्यायके १३वें श्लोकमें 'अचलम्' पद ध्यानयोगकी विधिमें शरीरको हिलने-डुलने न देनेके लिये आया है; सातवें अध्यायके २१वें श्लोकमें 'अचलाम्' पद श्रद्धाकी स्थिरताका द्योतक है और आठवें अध्यायके १०वें श्लोकमें 'अचलेन' पद मनकी एकाग्रताके अर्थमें आया है।

अव्यक्तम्=निराकार

जो व्यक्त न हो अर्थात् मन, बुद्धि और इन्द्रियोंका विषय न हो और जिसका कोई रूप या आकृति न हो, उसे 'अव्यक्त' कहते हैं। दूसरे अध्यायके २५वें श्लोकमें 'अव्यक्तः' पद आत्माके स्वरूपके वर्णनमें आया है और २८वें श्लोकमें 'अव्यक्तादीनि' तथा 'अव्यक्तनिधनानि' पदोंका प्रयोग यह बतलानेके लिये किया गया है कि प्राणियोंके जन्मसे पहले एवं मरनेके बाद उनका स्थूलशरीर प्रत्यक्ष नहीं दिखायी देता; सातवें अध्यायके २४वें श्लोकमें 'अव्यक्तम्' और नवें अध्यायके ४थे श्लोकमें 'अव्यक्तमूर्तिना' ये दोनों ही पद सगुण-निराकार परमात्माके वाचक हैं; आठवें अध्यायके १८वें श्लोकमें 'अव्यक्तात्' और 'अव्यक्तसंज्ञके' पद, २०वें श्लोकमें 'अव्यक्तात्' पद ब्रह्माके सूक्ष्मशरीरके वाचक होनेके कारण प्रकृतिके वाचक हैं तथा २०वें श्लोकमें ही '(सनातनः) अव्यक्तः' पद परमात्माका वाचक है और तेरहवें अध्यायके ५वें श्लोकमें 'अव्यक्तम्' पद मूलप्रकृतिका वाचक है। आठवें अध्यायके २१वें श्लोकमें 'अव्यक्तः' पद, इस बारहवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'अव्यक्तम्' पद और ५वें श्लोकमें 'अव्यक्तासक्तचेतसाम्' के अन्तर्गत 'अव्यक्त' तथा 'अव्यक्ता गतिः' पद सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके लिये आये हैं।

अक्षरम्=अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी

'न क्षरति इति अक्षरम्'—जिसका कभी क्षरण अर्थात् विनाश नहीं होता, वह 'अक्षर' है। यहाँ 'अक्षरम्' पद सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका वाचक है। आठवें अध्यायके ३रे और ११वें श्लोकोंमें, ग्यारहवें अध्यायके १८वें और ३७वें श्लोकोंमें तथा इस बारहवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'अक्षरम्' पद निर्गुण ब्रह्मका वाचक है, आठवें अध्यायके २१वें श्लोकमें 'अक्षरः' पद परमगतिका वाचक है और १३वें श्लोकमें तथा दसवें अध्यायके २५वें श्लोकमें 'अक्षरम्' पद प्रणवका वाचक है तथा पंद्रहवें अध्यायके १६वें श्लोकमें 'अक्षरः' पद दो बार आया है और दोनों ही बार जीवात्माके लिये आया है।

पर्युपासते = भलीभाँति उपासना करते हैं,

'पर्युपासते' पद यहाँपर निर्गुण-उपासकोंकी सम्यक् उपसना-का बोधक है। शरीरसहित सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मोंमें वासना और अहंभावका अभाव होकर भावरूप सच्चिदानन्दघन पमात्मा-में अभिन्नभावसे नित्य-निरन्तर दृढ़ स्थित रहना ही भलीभाँति उपासना है।

इन श्लोकोंमें आठ विशेषणोंसे ब्रह्मका स्वरूप बतलाकर जो कुछ विशेष वस्तु-तत्त्वका लक्ष्य कराया गया है और उससे जो एक विशेष वस्तु समझमें आती है, वह बुद्धिविशिष्ट ब्रह्मका ही स्वरूप है, वह पूर्ण तत्त्व नहीं है; क्योंकि निर्गुण-निर्विशेष

ब्रह्मका स्वरूप किसी भी प्रकारसे पूर्णतया नहीं बताया जा सकता। हाँ, इन विशेषणोंका लक्ष्य रखकर जो उपासना की जाती है, वह निर्गुण ब्रह्मकी उपासना है। इस तरह उपासना करनेसे साधकको निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

ते=वे

सर्वभूतहिते रताः=सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत हुए,

(१) प्राणिमात्रके हितमें अर्थात् सेवामें जो लगे हुए हैं, वे 'सर्वभूतहिते रताः' हैं।

(२) प्राणिमात्रके हितमें जिनकी प्रीति है, वे 'सर्वभूतहिते रताः' है।

(३) 'सर्वभूतानाम् हिते (परमात्मनि) रताः ते सर्वभूतहिते रताः'।

अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियोंका वास्तविक हित परमात्मा ही है और परमात्मामें जो रत हैं, वे 'सर्वभूतहिते रताः' हैं।

कर्मयोगके साधनमें आसक्ति, ममता और स्वार्थके त्यागकी मुख्यता है। मनुष्य जब शरीर और पदार्थोंको दूसरोंकी सेवामें लगायेगा तो उसकी आसक्ति, ममता और स्वार्थभाव स्वतः हटेगा। जिसका उद्देश्य प्राणिमात्रकी सेवा करना ही है, वह अपने शरीर और पदार्थोंको (दीन, दुःखी, अभावग्रस्त) प्राणियोंकी सेवामें लगायेगा ही। प्राणियोंकी सेवामें शरीरको लगानेसे

अहंता और उनकी सेवामें पदार्थोंको लगानेसे ममता हटेगी। इसलिये कर्मयोगके साधनमें सब प्राणियोंके हित अर्थात् सेवामें लगना अत्यावश्यक है। अतः 'सर्वभूतहिते रताः' इस पदका कर्मयोगका आचरण करनेवालोंके सम्बन्धमें प्रयोग करना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। परंतु भगवान्‌ने इस पदका प्रयोग यहाँ तथा पाँचवें अध्यायके २५वें श्लोकमें दोनों ही जगह निर्गुण-उपासकोंके विषयमें किया है। अतः यहाँ इस पदसे भगवान्‌का विशेष तात्पर्य है।

एक बात विशेष ध्यान देनेकी है, जो सेवा शरीर और पदार्थोंसे होती है, वह सीमित ही होती है; क्योंकि पदार्थ-मात्र मिलकर भी सीमित ही हैं। किंतु प्राणिमात्रके हितमें की जानेवाली सेवाका भाव व्यापक होनेसे सेवाभाव असीम हो जाता है। अतः पदार्थोंके पासमें रहते हुए भी उनमें आसक्ति, ममता आदि न रहनेसे उसे असीम परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी, जब कि साधारण मनुष्यका प्राणियोंकी सेवा करनेका भाव सीमित रहनेसे वह चाहे अपने सर्वस्वको भले ही उनकी सेवामें लगा दे,—तो भी पदार्थोंमें आसक्ति, ममता आदि रहने-से एवं भावकी कमीसे उसे असीम परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी। अतः असीम परमात्म-तत्त्वकी प्राप्तिके लिये प्राणिमात्रके हितमें प्रीतिरूपी असीम भाव आवश्यक है। उसी भावको लानेके लिये 'सर्वभूतहिते रताः' पद यहाँ दिया गया है।

साधक जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद तो चाहता है; किंतु जबतक उसके हृदयमें नाशवान् पदार्थोंका आदर है, तबतक उनको मायामय अथवा स्वप्नवत् समझकर त्यागना उसके लिये कठिन है। पदार्थोंका हृदयमें आदर रहते हुए भी वे किसी प्राणीके उपयोगमें आ जायँ तो उनका त्याग उससे सुगमता-पूर्वक हो जाता है। प्राणियोंके हितमें पदार्थोंका सदुपयोग करनेसे जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद सुगमतासे हो सकता है। भगवान्‌ने यहाँ 'सर्वभूतहिते रताः' पद देकर यह बतलाया है कि प्राणिमात्रके हितमें रति होनेसे पदार्थोंमें आदरबुद्धि होनेपर भी जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद सुगमतासे हो जायगा।

निर्गुण-उपासकोंकी साधनाके अन्तर्गत अवान्तर भेद अनेकों होते हुए भी मुख्य भेद दो हैं—

(१) जड-चेतन और चर-अचरके रूपमें जो कुछ प्रतीत होता है, वह सब आत्मा है या ब्रह्म है।

(२) जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत होता है, वह मायामय है—इस प्रकार संसारका बाध करके जो शेष बच रहता है, वह आत्मा या ब्रह्म है।

पहली साधनामें 'सब कुछ ब्रह्म है', इतना सीख लेने मात्रसे ज्ञाननिष्ठा सिद्ध नहीं होती। अन्तःकरणमें जबतक काम-क्रोधादि विकार हैं, तबतक ज्ञाननिष्ठाका साधन होना बहुत

कठिन है। पाँचवें अध्यायके छठे श्लोकमें 'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः' (कर्मयोगके बिना ज्ञाननिष्ठा कठिन है) पदोंसे भगवान्‌ने बतलाया है कि कर्मयोगीके लिये जैसे सभी प्राणियोंके हितमें प्रीति होना आवश्यक है, वैसे ही निर्गुण-उपासना करनेवाले साधकोंके लिये भी प्राणिमात्रके हितमें रति होना आवश्यक है।

दूसरी साधनामें संसारसे उदासीन रहकर जो साधक एकान्तमें ही तत्त्वका चिन्तन करते रहते हैं, उनकी उक्त साधनामें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग सहायक तो है, परंतु केवल कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देने मात्रसे सिद्धि प्राप्त नहीं होती (गीता ३ । ४का उत्तरार्द्ध); अपितु सिद्धि प्राप्त करनेके लिये भोगोंसे वैराग्य और शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियोंमें अपनेपनके त्यागकी अत्यन्त आवश्यकता है।

जबतक सांख्ययोगी अपनेको शरीरसे अलग नहीं समझ लेता, तबतक संसारसे अलग रहने मात्रसे ही लक्ष्य सिद्ध नहीं होता; क्योंकि शरीर भी तो संसारका ही एक अङ्ग है और शरीरसे अहंता, ममता, आसक्तिका मिटना ही उससे वास्तविक अलग होना है। इसलिये अहंता, ममता, आसक्ति मिटानेके लिये उनका प्राणिमात्रके हितमें लगना अति आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि साधक सर्वदा ही एकान्तमें रहे, यह सम्भव भी नहीं है; क्योंकि शरीर-निर्वाहके लिये उसे व्यवहार-क्षेत्रमें आना

ही पड़ता है और वैराग्यकी कमी होनेपर व्यवहारमें कठोरता आनेकी सम्भावना रहती है, एवं कठोरता आनेसे व्यक्तित्वका विलय अर्थात् अहंताका नाश नहीं होगा। सुतरां तत्त्वकी प्राप्तिमें कठिनता होगी। व्यवहारमें कहीं कठोरता न आ जाय, इसके लिये भी सभी भूतोंके हितमें रत रहना उसके लिये अत्यावश्यक है। यह माना जा सकता है कि ऐसे साधकोंके द्वारा सेवाके कार्योंका विस्तार नहीं होगा; परंतु भगवान् कहते हैं कि उनकी भी सभी प्राणियोंके हितमें रति होनेके कारण वे अपनी साधनामें तत्परतासे आगे बढ़ेंगे।

यदि यह मान लिया जाय कि साधक सर्वथा एकान्तमें ही परमात्म-तत्त्वका चिन्तन करता रहता है, तो उसके लिये यह प्रश्न उपस्थित होगा कि वह दूसरे प्राणियोंकी सेवामें कैसे लगेगा और 'सर्वभूतहिते रताः' पदका प्रयोग उसके लिये कैसे उपयुक्त होगा? इसका उत्तर यह है कि वह भी सब भूतोंके वास्तविक हित परमात्मामें ही सर्वथा लीन रहनेके कारण 'सर्वभूतहितमें रत' है। अतः ऐसे लोगोंके लिये भी यह पद ठीक ही प्रयुक्त हुआ है।

जैसे मनुष्य अपने शरीरकी सेवा स्वतः ही बिना किसीके उपदेश किये बड़ी सावधानीसे करता है एवं करनेका अभिमान भी नहीं करता, वैसे ही सिद्ध महापुरुषोंकी सर्वत्र आत्मबुद्धि होनेसे उनकी सबके हितमें रति स्वतः रहती है (गीता

६ । ३२)। उनके द्वारा प्राणिमात्रका कल्याण होता है; परंतु उनके मनमें इस भावकी रेखा भी नहीं होती कि मैं किसीका कल्याण कर रहा हूँ; उनमें अहंताका सर्वथा अभाव जो है ।

अतः साधकको चाहिये कि सर्वत्र आत्मबुद्धि करके संसारके किसी भी प्राणीको किंचिन्मात्र भी दुःख न पहुँचाकर सदा तत्परतासे स्वाभाविक ही उनको सुख पहुँचानेमें ही प्रीति करे। इस प्रकार सबके हितमें प्रीति करनेसे उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है ।

सर्वत्र समबुद्धयः=सबमें समरूप परमात्माको देखनेवाले

इस पदका भाव यह है कि निर्गुण-निराकार ब्रह्मके उपासकोंकी दृष्टि सर्वत्र एवं सम्पूर्ण प्राणी-पदार्थोंमें परिपूर्ण परमात्मापर ही रहनेके कारण विषम होती नहीं ।

यहाँ ज्ञाननिष्ठावाले उपासकोंके लिये इस पदका प्रयोग करके भगवान् एक विशेष भाव प्रकट करते हैं। वह यह कि ज्ञानमार्गियोंके लिये एकान्त देशमें रहकर तत्त्वका चिन्तन करना ही एकमात्र साधन नहीं है; क्योंकि व्यवहारकालमें ही विशेषतासे 'समबुद्धयः' पदकी सार्थकता होती है। दूसरे, संसारसे हटकर शरीरको निर्जन स्थानमें ले जाना ही सर्वथा एकान्त-सेवन नहीं है; क्योंकि शरीर भी तो संसारका ही एक अङ्ग है । वास्तविक एकान्तकी सिद्धि तो परमात्मतत्त्वके अतिरिक्त किसी अन्यकी अर्थात् शरीर और संसारकी सत्ता न होनेसे ही होती है। साधना

करनेके लिये एकान्त भी उपयोगी है; परंतु ऐसे एकान्तसेवी साधकके द्वारा व्यवहारकालमें भूल होनी सम्भव है, जब कि वास्तविक एकान्तसेवी महापुरुषोंके द्वारा भूल कभी होती ही नहीं; क्योंकि उनकी दृष्टिमें दूसरी सत्ताका सर्वथा अभाव है। अतः साधकको चाहिये कि वास्तविक एकान्तको लक्ष्यमें रखकर अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे अपनी अहंता-ममता हटाकर सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्ममें अभिन्न भावसे स्थित रहे। ऐसे लोग ही वास्तवमें 'समबुद्धि' हैं।

गीतामें 'समबुद्धि'का तात्पर्य 'समदर्शन' है, न कि 'समवर्तन'। पाँचवें अध्यायके १८ वें श्लोकमें भगवान्‌ने विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चण्डाल—इन पाँच प्राणियोंके नाम गिनाये हैं, जिनके साथ व्यवहारमें किसी भी तरह समता होनी असम्भव है, वहाँ भी 'समदर्शिनः' पद ही प्रयुक्त हुआ है। इससे तात्पर्य यह निकला कि बर्ताव कभी समान नहीं हो सकता; बर्तावमें भिन्नता अनिवार्य है। परंतु ऐसे साधकोंकी दृष्टि विभिन्न प्राणी-पदार्थोंकी आकृति और उपयोगितापर ही न ठहरकर उनमें परिपूर्ण परमात्मापर रहनेसे उनमें आन्तरिक समता रहती है। अतः 'समबुद्धयः' पदसे आन्तरिक समताकी ओर ही लक्ष्य कराया गया है।

सिद्ध महापुरुषोंकी दृष्टिमें परमात्माके सिवा दूसरी सत्ता न रहनेसे वे सदा और सर्वत्र 'समबुद्धि' ही हैं। सिद्ध पुरुषोंकी

जो स्वतःसिद्ध स्थिति है, साधकोंका वही आदर्श है और उसीको लक्ष्य करके वे चलते हैं। जब कि साधकोंकी दृष्टिमें परमात्माके सिवा अन्य पदार्थोंकी भी जितने अंशमें सत्ता रहती है, उतने अंशमें उनकी बुद्धिमें समता नहीं रहती। अतः साधककी बुद्धिमें अन्य पदार्थोंकी अर्थात् संसारकी सत्ता जितनी-जितनी कम होती चली जायगी, उतनी-उतनी ही उसकी समबुद्धि होती जायगी।

साधक अपनी बुद्धिसे सर्वत्र परमात्माको देखनेकी चेष्टा करता है, जब कि सिद्ध महापुरुषोंकी बुद्धिमें परमात्मा इतनी घनतासे परिपूर्ण हैं कि उनके लिये परमात्माके सिवा और कुछ है ही नहीं (गीता ७। १९)। इसलिये उनकी बुद्धिका विषय परमात्मा नहीं है, अपितु उनकी बुद्धि ही परमात्मासे परिपूर्ण है। अतएव वे 'सर्वत्र समबुद्धयः' हैं।

पाँचवें अध्यायके १९ वें श्लोकमें 'येषां साम्ये स्थितं मनः' पद और छठे अध्यायके ९ वें श्लोकमें 'समबुद्धिः' पद इसी अर्थमें सिद्ध भक्तोंके लिये प्रयुक्त हुए हैं। छठे अध्यायके ३२ वें श्लोकमें 'समं पश्यति' पदका भी सिद्ध भक्तोंके लिये ही प्रयोग हुआ है।

'पश्यति' (देखना) तीन तरहसे होता है—(१) नेत्रोंसे देखना, (२) बुद्धिसे देखना और (३) अनुभवद्वारा स्वरूपतः देखना। यहाँ 'पश्यति' पद अनुभवके अर्थमें आया है। छठे

अध्यायके २९वें श्लोकमें 'समदर्शनः' पद साधकोंके द्वारा बुद्धि-से देखनेके लिये आया है।

माम् एव प्राप्नुवन्ति=मुझको ही प्राप्त होते हैं।

इन पदोंसे भगवान् यह स्पष्ट करते हैं कि "निर्गुणके उपासक कहीं यह न समझ लें कि निर्गुण-तत्त्व कोई दूसरा है और मैं (सगुणरूप) कोई दूसरा हूँ। मैं और निर्गुण-तत्त्व एक ही हैं। ब्रह्म-तत्त्व मुझसे भिन्न नहीं है—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' (गीता १४। २७)—'सगुण और निर्गुण दोनों मेरे ही रूप हैं।"

सम्बन्ध

अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने सगुण-उपासकोंको सर्वोत्तम योगी बतलाया और तीसरे तथा चौथे श्लोकोंमें निर्गुण-उपासकोंको अपनी प्राप्तिकी बात कही। अब दोनों प्रकारकी उपासनाओंके अवान्तर भेद और कठिनता एवं सुगमतामूलक तारतम्य आगे तीन श्लोकोंमें बतलाते हैं—

श्लोक

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ ५॥

भावार्थ

यहाँ भगवान् कहते हैं कि दोनों प्रकारके उपासकोंकी अपनी-अपनी उपासनामें रुचि, श्रद्धा, वैराग्य और इन्द्रिय-संयम

आदिकी दृष्टिसे लक्ष्य-प्राप्तिमें योग्यता समान होते हुए भी निर्गुण-उपासकोंको देहाभिमानके कारण अपने साधनमें परिश्रम और कठिनाई अधिक प्रतीत होगी तथा लक्ष्य-प्राप्तिमें भी अपेक्षाकृत विलम्ब होगा। जितना-जितना देहाभिमान नष्ट होता जायगा, उतना-उतना ही साधक तत्त्वमें प्रविष्ट होता जायगा और उसका क्लेश कम होता जायगा। देहाभिमानी निर्गुण-उपासक अपने विवेकका आश्रय लेकर ही साधन करते हैं तथा उनका लक्ष्य निर्गुण-निराकार होनेसे चिन्तनका कोई स्थूल आधार नहीं रहता। इसलिये उनकी मन-बुद्धिको निराकार-तत्त्वमें स्थित होनेमें कठिनाई पड़ती है। यद्यपि सगुण-उपासकोंमें भी उसी मात्राका देहाभिमान रहता है, तथापि उनकी मन-बुद्धिके लिये ध्यानका विषय भगवान्का सगुण-साकार रूप होनेसे तथा भगवान्के ऊपर ही विश्वासपूर्वक निर्भर रहनेसे उन्हें साधन क्लेशयुक्त नहीं प्रतीत होता। भगवान्की लीला, गुण, प्रभाव आदिका चिन्तन, कथा और जप-ध्यान आदिमें उनकी मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके तल्लीन होनेके कारण उनको सुख प्रतीत होता है। इसी दृष्टिसे यहाँ यह कहा गया है कि निर्गुण-उपासकोंको साधनामें अपेक्षाकृत अधिक क्लेश होता है। मुख्य बात तो यहाँ यही है कि सगुण-उपासनामें देहाभिमान उतना बाधक नहीं जितना निर्गुणोपासनामें। अतः निर्गुणोपासनामें साधकोंको देहाभिमानके कारण क्लेश अधिक होता है।

अन्वय

अव्यक्तासक्तचेतसाम् तेषाम् क्लेशः अधिकतरः हि देहवद्भिः अव्यक्ता गतिः दुःखम् अवाप्यते ॥ ५ ॥

अव्यक्तासक्तचेतसाम् तेषाम्=निराकार ब्रह्ममें आसक्त हुए चित्तवाले उन साधकोंके साधनमें

'अव्यक्तमें आसक्त चित्तवाले'—इस विशेषणसे यहाँ उन साधकोंकी ओर संकेत किया गया है, जो निर्गुण-उपासनाको श्रेष्ठ तो मानते हैं; परंतु जिनका चित्त निर्गुण-तत्त्वमें आविष्ट नहीं होता है। तत्त्वमें आविष्ट होनेके लिये साधनमें तीन बातोंकी आवश्यकता होती है—(१) रुचि, (२) विश्वास और (३) योग्यता। आसक्त चित्तवालोंको निर्गुण-उपासनाको श्रेष्ठ माननेके फलस्वरूप उसमें कुछ रुचि तो पैदा हो गयी है और विश्वासपूर्वक वे साधना करने भी लग गये हैं, परंतु वैराग्यकी कमी एवं देहमें अभिमान होनेके कारण जिनका चित्त तत्त्वमें प्रविष्ट नहीं हो पाता है; ऐसे साधकोंके लिये ही 'अव्यक्तासक्तचेतसाम्' पदका प्रयोग हुआ है।

भगवान्‌ने छठे अध्यायके २७वें और २८वें श्लोकोंमें 'ब्रह्मभूत' अर्थात् ब्रह्ममें अभिन्न भावसे स्थित साधकको सुखपूर्वक ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी है; परंतु इस श्लोकमें 'क्लेशः अधिकतरः' पदोंसे यह स्पष्ट कर दिया है कि इन साधकोंका चित्त ब्रह्मभूत साधकोंकी तरह निर्गुण-तत्त्वमें सर्वथा तल्लीन नहीं हो पाया है।

अतः उन्हें 'अव्यक्तमें आसक्त चित्तवाला' कहा गया है। चित्त सर्वथा आविष्ट न होनेका अभिप्राय यह है कि वह अभीतक शरीर और संसारसे सर्वथा उपरत नहीं हो सका है और न अभीतक उसकी स्थिति ब्रह्ममें निश्चल भावसे हुई है।

तेरहवें अध्यायके ५वें श्लोकमें 'अव्यक्तम्' पद प्रकृतिके अर्थमें आया है तथा अन्य कई स्थलोंमें भी वह प्रकृतिके लिये आया है। अतः यह प्रश्न होता है कि यहाँ भी 'अव्यक्तासक्तचेतसाम्' पदका अर्थ 'प्रकृतिमें आसक्त चित्तवाले पुरुष' ले लिया जाय तो क्या आपत्ति है? इसका उत्तर यह है कि इसी अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनने प्रश्नमें 'त्वां पर्युपासते, अक्षरम् अव्यक्तम् (पर्युपासते), तेषाम् योगवित्तमाः के' (आपके सगुणरूप परमेश्वरकी और निराकार स्वरूपकी जो उपासना करते हैं, उनमें श्रेष्ठ कौन हैं?) कहकर 'त्वाम्' पदसे सगुण-साकार रूपके और 'अव्यक्तम्' पदसे इसके विपरीत निर्गुण-निराकार स्वरूपके विषयमें ही प्रश्न किया है। इसलिये उसी प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने 'अव्यक्त' पदका व्यक्तरूपके विपरीत निराकार रूपके लिये ही प्रयोग किया है, प्रकृतिके लिये नहीं। अतः यहाँ प्रकृतिका प्रसङ्ग न होनेके कारण 'अव्यक्त' पदका अर्थ 'प्रकृति' नहीं लिया जा सकता।

नवें अध्यायके चौथे श्लोकमें 'अव्यक्तमूर्तिना' पद सगुण-निराकार स्वरूपके लिये आया है। ऐसी दशामें प्रश्न होता है

कि "यहाँ 'अव्यक्तासक्तचेतसाम्' पदका अर्थ 'सगुण-निराकारमें आसक्त चित्तवाले पुरुष' ले लिया जाय तो क्या आपत्ति है ?" इसका उत्तर यह है कि इसी अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नमें 'त्वाम्' पद सगुण-साकारके लिये और 'अव्यक्तम्' पदके साथ 'अक्षरम्' पद निर्गुण-निराकारके लिये आया है। 'ब्रह्म क्या है ?'— अर्जुनके इस प्रश्नके उत्तरमें आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान् बतला चुके हैं कि 'परम अक्षर ब्रह्म है' अर्थात् वहाँ भी 'अक्षरम्' पद निर्गुण-निराकारके लिये ही आया है। इसलिये 'अव्यक्तम् अक्षरम्' पदोंसे जिस निर्गुण ब्रह्मकी बात अर्जुनने पूछी थी, उनके उस प्रश्नके उत्तरमें यहाँ 'अव्यक्त' पदसे वही निर्गुण ब्रह्म लिया जा सकता है, सगुण-निराकार नहीं।

क्लेशः अधिकतरः=क्लेश अर्थात् कष्ट विशेष है;

इस पदका मुख्यतासे यह भाव है कि जिनका चित्त निर्गुण-तत्त्वमें तल्लीन नहीं होता है, ऐसे निर्गुण-उपासकोंको देहाभिमानके कारण अपनी साधनामें अपने समकक्ष साकार-उपासकोंकी अपेक्षा कष्ट अर्थात् कठिनाई विशेष होती है; और गौण रूपसे यह भाव है कि यहाँ प्रारम्भिक अवस्थासे लेकर शेष सीमातकके सभी निर्गुण-उपासकोंको सगुण-उपासकोंकी अपेक्षा कठिनता होती है।

साधक दो तरहके होते हैं—

(१) ऐसे साधक होते हैं, जो सत्सङ्ग-विचार आदिके
फलस्वरूप साधनमें प्रवृत्त होते हैं। अतः इनको अपने साधनमें
क्लेश अधिक होता है।

(२) ऐसे साधक होते हैं, जिनकी साधनामें स्वतः रुचि
तथा संसारसे वैराग्य है। इनको अपने साधनमें क्लेश कम
होता है।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि 'साधक दो ही तरहके
क्यों होते हैं?' इसका समाधान यह है कि 'गीतामें योगभ्रष्टकी
गतिके वर्णनमें भगवान् दो ही गतियोंका वर्णन करते हैं।'—

(१) उनमेंसे कुछ तो पुण्यलोकोंमें जाते हैं, वहाँके
भोग भोगकर लौटनेपर श्रीमानोंके घरमें जन्म लेते हैं और
फिर साधना करके परमात्माको प्राप्त करते हैं (गीता
६। ४१ और ४४)।

(२) दूसरे सीधे ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म
लेते हैं और फिर साधना करके परमात्माको प्राप्त करते हैं।
ऐसे घरोंमें साधकोंका जन्म 'दुर्लभतर' बतलाया है (गीता
६। ४२, ४३ और ४५)।

उपर्युक्त विवेचनसे ऐसा जान पड़ता है कि पहली गतिवाले
वे साधक हैं, जो सत्सङ्ग-विचार आदिके फलस्वरूप साधनामें
लगे हैं और संसारसे स्वतः वैराग्य नहीं है और दूसरी गतिवाले

वे साधक हैं, जिनकी साधनामें स्वतः रुचि है और संसारसे वैराग्य है।

अब नीचे सगुण-उपासना और निर्गुण-उपासनाकी सुगमता और कठिनतापर विचार किया जा रहा है।

सगुण-उपासनाकी सुगमताएँ–	निर्गुण-उपासनाकी कठिनताएँ—
(१) सगुण-उपासनामें मन-इन्द्रियोंको सगुण-साकार स्वरूप तथा उसके नाम-जप, ध्यान, लीला-चिन्तन, कथा-श्रवण आदिका आधार रहता है। भगवान्‌के परायण होनेसे उसकी मन-इन्द्रियाँ भगवान्‌के स्वरूप एवं लीलाओंके चिन्तन, कथा-श्रवण, भगवत्सेवा और पूजनमें अपेक्षाकृत सरलतासे लग जाती हैं। इसलिये सांसारिक विषय-चिन्तनकी सम्भावना कम रहती है।	(१) तत्त्व निर्गुण होनेके कारण मन-इन्द्रियोंके लिये कोई आधार नहीं रहता और कोई आधार न रहनेके कारण तथा वैराग्यकी कमीके कारण इन्द्रियोंके द्वारा विषय-चिन्तनकी अधिक सम्भावना है (गीता २।६०, ६२, ६३)।
(२) सांसारिक आसक्तिसे ही साधनमें क्लेश होता	(२) देहमें जितनी आसक्ति रहती है, उतना ही

है, परंतु यह साधक इसे दूर करनेके लिये भगवान्के ही आश्रित रहता है। इसे भगवान्का ही बल होता है। बिल्ली जैसे अपने बच्चेको उठाकर ले जाती है, बच्चा तो केवल माँपर निर्भर रहता है, उसी तरह यह साधक भगवान्पर ही निर्भर रहता है। भगवान् ही इसकी सार-सँभाल करते हैं।	साधनमें क्लेश अधिक होता है। साधक उसे वि- के द्वारा हटाना चाहता है विवेकका आश्रय लेकर साध करता है और इसे अप साधनका ही बल है। बंदर का बच्चा जैसे माँको पक रहता है और अपनी पकड़ ही अपनी रक्षा मानता है उसी तरह यह साधक अप साधनके बलपर ही अपन उन्नति मानता है। इसीलि श्रीरामचरितमानसमें भगवान् इसे अपने बड़े लड़केकी तर बतलाया है।
'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥ करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥' (अरण्य० ४२। ४-५)	'मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी।' (अरण्य० ४२। ८
अतः इसकी सांसारिक आसक्ति सुगमतासे मिट जाती है।	
(३) आठवें अध्यायके १४वें श्लोकमें ऐसे उपासकोंके लिये भगवान्ने अपनेको	(३) ऐसे उपासकोंके लिये गीतामें कहीं भी भगवान्ने

सुलभ बतलाया है—'तस्याहं सुलभः पार्थ ।' 'सुलभ' शब्द गीतामें, एक ही बार आया है।

अपने तत्त्वको सुलभ नहीं बताया है।

(४) ऐसे उपासकोंके लिये गीतामें जगह-जगह 'नचिरेण' 'नचिरात्' आदि पदोंसे भगवान्‌ने शीघ्र ही अपनी प्राप्ति बतलायी है (गीता ५ । ६; १२ । ७)।

(४) ज्ञानयोगियोंकी लक्ष्य-प्राप्तिके सम्बन्धमें 'नचिरेण' पद गीतामें कहीं भी नहीं आया है। चौथे अध्यायके ३९वें श्लोकमें 'अचिरेण' पद ज्ञानके अनन्तर शान्तिकी प्राप्तिके सम्बन्धमें आया है, न कि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके सम्बन्धमें।

(५) सगुण-उपासकोंके अज्ञानरूपी अन्धकारको भगवान् ही मिटाकर तत्त्वज्ञान भी वे ही दे देते हैं (गीता १० । १०-११)।

(५) निर्गुण-उपासक तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति स्वयं करते हैं (गीता १२ । ४)।

(६) इनका उद्धार भगवान् करते हैं (गीता १२ । ७)।

(६) ये स्वयं अपना उद्धार करते हैं अर्थात् निर्गुण-तत्त्वको प्राप्त करते हैं (गीता १२ । ४)।

(७) ऐसे उपासकोंमें यदि कोई सूक्ष्म दोष रह जाता है तो भगवान् सर्वज्ञ होनेके कारण उसे जानते ही हैं और कृपा करके हटा देते हैं (गीता ९ । २२) ।

(८) ऐसे उपासकोंकी उपासना भगवान्की उपासना है और भगवान् सदा-सर्वदा पूर्ण हैं ही । अतः भगवान्की पूर्णतामें किंचित् भी संदेह न रहनेके कारण श्रद्धा सुगमतासे हो सकती है ।

(९) ऐसे उपासक भगवान्को कृपालु मानते हैं,

(७) ऐसे उपासकोंमें कमी रह जाती है तो उस कमीका ज्ञान होनेमें उन्हें दे लगती है और ठीक-ठीक पह चाननेमें कठिनाई रहती है हाँ, कमीको ठीक-ठीक पहचान लेनेपर तो ये भी उसे दूर क सकते हैं ।

(८) चौथे अध्यायके ३४वें और तेरहवें अध्यायके ७वें श्लोकोंमें भगवान्ने ज्ञानयोगियोंको ज्ञानकी प्राप्तिके लिये गुरुकी उपासनाकी आज्ञा दी है, किंतु गुरुकी पूर्णताका निश्चित पता न होनेपर अथवा गुरुके पूर्ण न होनेपर स्थिर श्रद्धाके होनेमें कठिनता होगी तथा साधनकी सफलतामें भी देर होनेकी गुंजाइश रहेगी ।

(९) ऐसे उपासक तत्त्वको निर्गुण, निराकार और

सुतरां कृपाके आश्रयसे सब कठिनाइयोंको पार कर जाते हैं। इसलिये उनके लिये साधन सुगम हो जाता है और भगवत्कृपाके बलपर ही वे शीघ्र भगवत्प्राप्ति कर लेते हैं (गीता १८ । ५६-५७-५८) ।

(१०) मनुष्यमें क्रिया करनेका अभ्यास तो रहता ही है, इसलिये उसे उन क्रियाओंको परमात्माके लिये करनेमें केवल भाव ही बदलना है, क्रियाएँ तो वे ही रहती हैं। अतः भक्तके लिये वे सुगम होती हैं और भगवान्‌के लिये कर्म करनेसे वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है।

(११) पदार्थोंका हृदयमें आदर रहते हुए भी वे यदि किसीके उपयोगमें आ जाते तो उन्हें त्यागनेमें कठि-

उदासीन मानते हैं। अतः कृपाका अनुभव न होनेसे उन्हें अपने साधनके बलपर तत्त्वकी प्राप्तिमें आनेवाले विघ्नोंको पार करनेमें कठिनाई प्रतीत होती है और इसीलिये विलम्ब होता है।

(१०) ज्ञानयोगी क्रियाओंको प्रकृतिके अर्पण करता है, किंतु विवेक होनेसे ही क्रियाएँ प्रकृतिके अर्पण हो सकती हैं। यदि विवेक जाग्रत् न रहा तो क्रियाएँ प्रकृतिके अर्पण नहीं होंगी और साधक स्वयं उनमें बँध जायगा।

(११) जबतक साधकके चित्तमें पदार्थोंका आदर है,

नता नहीं होती । सत्पात्रोंके लिये पदार्थोंके त्यागमें और भी सुगमता है तथा भगवान्‌के लिये तो वह त्याग बहुत ही सुगमतासे हो सकता है ।

(१२) साधनमें पूरी रुचि न होनेसे क्लेश प्रतीत होता है; परंतु साधकको भगवान्‌पर विश्वास हो जानेसे साधनमें क्लेश कम होता चला जायगा ।

(१३) इस साधनामें विवेक और वैराग्यकी उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी प्रेम और अपनत्वकी । उदाहरणके लिये द्रौपदीकी औरोंके प्रति द्वेष-वृत्ति रहते हुए भी उसकी पुकारमात्रसे भग-

तबतक पदार्थोंको मायामय समझकर त्यागना उसके लि

कठिन पड़ेगा ।

(१२) साधनमें पू रुचि न होनेसे ही क्लेश होता है । पूरी रुचि होनेसे क्लेश नहीं होता, जैसे छठे अध्यायके २८वें श्लोकमें ब्रह्मभूत साधकको सुखपूर्वक ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है ।

(१३) साधक पात्र बननेपर ही तत्त्वको प्राप्त कर सकेगा और पात्र बननेके लिये

वान् प्रकट हो जाते थे;* क्योंकि वह भगवान्‌को अपना मानती थी और भगवान्‌का स्वभाव है कि वे भक्तके दोषोंकी ओर देखते ही नहीं। भगवान् तो अपने साथ भक्तके सम्बन्ध और प्रेमको ही देखते हैं और भगवान्‌के साथ अपनापनका सम्बन्ध जोड़ना उतना कठिन नहीं है, जितना कि पात्र बनना कठिन है।

विवेक और तीव्र वैराग्यकी आवश्यकता होगी, जिनको प्राप्त करना सहज बात नहीं है।

हि=क्योंकि

देहवद्भिः=देहाभिमानियोंद्वारा

'देही' 'देहभृत्' आदि पदोंका अर्थ साधारणतया 'देहधारी पुरुष' लिया गया है। प्रसङ्गानुसार इनका अर्थ 'जीव' और

* यह बात उन भक्तोंके लिये है जिनके याद करने मात्रसे भगवान् प्रकट हो जाते हैं, सर्वसाधारणके लिये नहीं है। जो भक्त सर्वथा भगवान्‌पर निर्भर हो जाता है एवं जिसका भगवान्‌के साथ अपनत्वका भाव इतना अत्यधिक होता है कि केवल याद करने मात्रसे भगवान् प्रकट हो जाते हैं, उसके दोष दूर करनेकी जिम्मेदारी भगवान्‌पर आ जाती है।

'आत्मा' भी लिया जाता है। यहाँ इस पदका अर्थ 'देहाभिमानी पुरुष' लेना चाहिये; क्योंकि निर्गुण-उपासकोंके लिये श्लोकके पूर्वार्द्धमें 'अव्यक्तासक्तचेतसाम्' पद आया है, जिससे यह प्रतीत होता है कि वे निर्गुण-उपासनाको श्रेष्ठ तो मानते हैं, परंतु उनका चित्त देहाभिमानके कारण निर्गुण-तत्त्वमें अभीतक आविष्ट नहीं हो सका है।

दूसरे अध्यायके २२वें श्लोकमें 'देही' पद जीवात्माके लिये और ३०वें श्लोकमें 'देही' पद आत्माके लिये प्रयुक्त है। पाँचवें अध्यायके १३वें श्लोकमें 'देही' पद सांख्ययोगके ऊँचे साधकका बोधक है और चौदहवें अध्यायके २०वें श्लोकमें 'देही' पद सिद्ध पुरुषके लिये आया है; क्योंकि लोकदृष्टिमें वह शरीरधारी ही दीखता है।

दूसरे अध्यायके १३वें और ५९वें श्लोकोंमें 'देहिनः' पद, तीसरे अध्यायके ४०वें और चौदहवें अध्यायके ५वें तथा ७वें श्लोकोंमें 'देहिनम्' पद, आठवें अध्यायके ४थे श्लोकमें 'देहभृताम्' पद, चौदहवें अध्यायके १४वें श्लोकमें 'देहभृत्' पद, सत्रहवें अध्यायके २रे श्लोकमें 'देहिनाम्' पद; चौदहवें अध्यायके ८वें श्लोकमें 'सर्वदेहिनाम्' पद और अठारहवें अध्यायके ११वें श्लोकमें 'देहभृता' पद सामान्य देहाभिमानी पुरुषोंके लिये प्रयुक्त हुए हैं

अव्यक्ता गतिः=अव्यक्तविषयक गति

दुःखम् अवाप्यते=दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है।

ब्रह्मके निर्गुण-निराकार स्वरूपकी प्राप्तिको 'अव्यक्ता गतिः' कहा है। साधारण पुरुषोंको स्थिति व्यक्त अर्थात् देहमें होनेके कारण अव्यक्तमें स्थित होनेमें उन्हें कठिनाई पड़ती है। साधक यदि अपनेको देहवाला न माने तो अव्यक्तमें स्थिति सुगमतापूर्वक और शीघ्रतासे हो सकती है।

(सम्बन्ध पाँचवें श्लोकके ऊपर दिया हुआ है।)

श्लोक

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

भावार्थ

निर्गुण-उपासकोंसे भिन्न अपने अनन्यप्रेमी सगुण-उपासकोंके विषयमें भगवान्‌ने यहाँ तीन बातें बतलायी हैं—

(१) मेरी प्राप्तिका उद्देश्य रहनेसे उनके सभी कर्म सर्वथा मेरे ही समर्पित होते हैं।

(२) मुझको ही परम श्रेष्ठ और परम प्रापणीय मानकर वे मेरे ही परायण रहते हैं।

(३) मेरे सिवा और किसी वस्तुमें आसक्ति न रहनेके कारण नित्य-निरन्तर मेरा ही ध्यान-चिन्तन करते हुए वे मेरी ही उपासना करते हैं।

ग्यारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें भगवान्ने अनन्य भक्तके लक्षणोंमें तीन विधेयात्मक ('मत्कर्मकृत्', 'मत्परमः' और 'मद्भक्तः') और दो निषेधात्मक ('सङ्गवर्जितः' और 'निर्वैरः') पद दिये हैं। उन्हीं पदोंका अनुवाद यहाँ इस प्रकार हुआ है—

(१) 'सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य' पदोंसे 'मत्कर्मकृत्' की ओर लक्ष्य है।

(२) 'मत्पराः' पदसे 'मत्परमः' का संकेत है।

(३) 'अनन्येनैव योगेन' पदसे 'मद्भक्तः' का लक्ष्य कराते हैं।

(४) 'अनन्येनैव योगेन' का तात्पर्य यह है कि भगवान् में ही अनन्यतापूर्वक लगे रहनेसे उनकी अन्यत्र कहीं आसक्ति न रहनेके कारण वे 'सङ्गवर्जितः' हैं।

(५) अन्यमें आसक्ति न रहनेके कारण उनके मनमें किसीके प्रति भी वैर, उत्तेजना और क्रोध आदिका भाव नहीं रह सकता, इसलिये 'निर्वैरः' पदका भाव भी इसके अन्तर्गत आ जाता है। परंतु भगवान्ने इसे स्पष्ट करनेके लिये यहाँ १३वें श्लोकमें सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें सबसे पहले 'अद्वेष्टा' पदका प्रयोग किया है।

अन्वय

तु ये मत्पराः सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य माम् एव अनन्येन योगेन ध्यायन्तः उपासते ॥ ६ ॥

तु=इनसे भिन्न
ये=जो

'ये' पद यहाँ निर्गुण-उपासकोंके प्रकरणसे सगुण-उपासकोंके प्रकरणको अलग करनेके लिये आया है। ग्यारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें और इसी अध्यायके २रे श्लोकमें जिन उपासकोंका वर्णन हुआ है, उन्हीं उपासकोंका प्रकरण इस श्लोकसे प्रारम्भ करते हैं।

मत्पराः=मेरे परायण हुए

परायण होनेका अर्थ है—भगवान्‌को परमपूज्य और सर्वश्रेष्ठ समझकर अपने आपको भगवान्‌के समर्पित किये रहना। सर्वथा भगवान्‌के परायण होनेसे सगुण-उपासक अपने आपको भगवान्‌का यन्त्र समझता है, अतः शुभ क्रियाओंको भगवान्‌के द्वारा की हुई मानता है एवं संसारमें आसक्ति न रहनेके कारण अशुभ क्रिया उससे होती नहीं। फलतः वह कर्तृत्वाभिमानसे रहित हो जाता है।

दूसरे अध्यायके ६१वें श्लोकमें, छठे अध्यायके १४वें श्लोकमें और अठारहवें अध्यायके ५७वें श्लोकमें 'मत्परः' पदसे, नवें अध्यायके ३४वें श्लोकमें 'मत्परायणः' पदसे तथा ग्यारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें 'मत्परमः' पदसे 'मत्पराः' (मेरे परायण) पदका भाव ही बताया गया है।

सर्वाणि कर्माणि=सम्पूर्ण कर्मोंको

यहाँ 'कर्माणि' पद स्वयं ही बहुवचनान्त होनेसे सम्पूर्ण कर्मोंका बोध कराता है, परंतु इसके साथ 'सर्वाणि' विशेषण देकर सभी लौकिक अर्थात् शारीरिक और आजीविकासम्बन्धी एवं पारलौकिक अर्थात् जप-ध्यानसम्बन्धी सम्पूर्ण क्रियाओंका इसमें समाहार किया गया है।

नवें अध्यायके २७वें श्लोकमें वर्णित 'यदश्नासि' पदसे शरीर-निर्वाहसम्बन्धी सम्पूर्ण क्रियाएँ, 'यज्जुहोषि', 'ददासि यत्' और 'यत्तपस्यसि' पदोंसे यज्ञ, दान, तप आदि सम्पूर्ण वैदिक कर्म तथा 'यत्करोषि' पदके अन्तर्गत अन्य सभी तरहकी आजीविकासम्बन्धी क्रियाएँ आ जाती हैं, अतः मन, वाणी और शरीरसे जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, उन सभीका इस पदमें अन्तर्भाव हो जाता है।

मयि संन्यस्य=मुझमें अर्पण करके

इस पदसे भगवान् क्रियाओंका स्वरूपसे त्याग करनेकी बात नहीं कहते; क्योंकि पहली बात तो यह है कि स्वरूपसे कर्मोंका त्याग सम्भव ही नहीं है (गीता ३ । ५; १८ । ११)। दूसरी बात यह है कि सगुण-उपासक क्रियाओंको यदि प्रमादसे छोड़ भी देगा तो वह त्याग मोहपूर्वक किया गया होनेसे 'तामस त्याग' होगा (गीता १८ । ७) और यदि दुःखरूप समझकर शारीरिक

क्लेशके भयसे उन्हें वह छोड़ता है तो वह 'राजस त्याग' होगा (गीता १८ । ८)। अतः ऐसा करनेसे कर्मोंसे सम्बन्ध छूटेगा नहीं। इसलिये कर्मोंसे मुक्त होनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करे; क्योंकि ममता, आसक्ति और फलेच्छा आदिके द्वारा क्रियाके साथ जो सम्बन्ध जोड़ा जाता है, वही बाँधनेवाला है, कर्म स्वरूपतः कभी मनुष्यको बाँधते नहीं। साधकका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति होनेसे उसमें पदार्थोंकी इच्छा नहीं रहती और अपने आपको भगवान्‌का समझनेसे उसकी कर्मोंसे ममता हटकर भगवान्‌में हो जाती है। क्योंकि स्वयं अर्पित होनेसे उसके सम्पूर्ण कर्म भगवदर्पित होते हैं। उसी अर्पणकी ओर 'सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः' पदोंसे संकेत है।

तीसरे अध्यायके ३०वें श्लोकमें 'अध्यात्मचेतसा मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य' पदोंसे, पाँचवें अध्यायके १०वें श्लोकमें 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि' पदोंसे, नवें अध्यायके २८वें श्लोकमें 'संन्यासयोगयुक्तात्मा' पदसे, ग्यारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें 'मत्कर्मकृत्' पदसे, इसी अध्यायके १०वें श्लोकमें 'मत्कर्मपरमो भव' एवं 'मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्' पदोंसे, अठारहवें अध्यायके ५७वें श्लोकमें 'चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य' पदोंसे और ६६वें श्लोकमें 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' पदोंसे कहीं भी भगवान्‌ने स्वरूपसे कर्मोंके त्यागकी बात नहीं कही है, अपितु कहीं

'अध्यात्मचेतसा' से कर्मोंका अर्पण कहा है, कहीं 'ब्रह्म'में अर्पण कहा है और कहीं 'चेतसा' (चित्त) से कर्मोंका अर्पण कहा है। इसका तात्पर्य चित्तसे भगवान्‌को कर्म अर्पण करना ही है। साधकको मन-बुद्धिमें यह निश्चय है कि 'मैं भगवान्‌के सर्वथा अर्पित हूँ और मेरे परम प्रापणीय भगवान् ही हैं।' ऐसे मन और बुद्धिसे युक्त साधक जो कर्म करता है, उसके कर्म वास्तवमें भगवदर्पित हैं।

भगवान्‌में अर्पणके कई भेद हैं, जिनको गीतामें 'मदर्पण कर्म', 'मदर्थ कर्म' और 'मत्कर्म' आदि नामोंसे कहा गया है।

(१) 'मदर्पण कर्म' उन कर्मोंको कहते हैं, जिन कर्मोंका उद्देश्य पहले कुछ और हो, किंतु क्रिया करते समय या क्रियाके पश्चात् उन्हें भगवान्‌के अर्पण कर दिया जाय। जैसे ध्रुवकी तपस्या प्रारम्भ तो हुई राज्यकी इच्छाको लेकर, परंतु उन्होंने तपस्याकालमें ही तपस्यारूपी कर्मको भगवान्‌के अर्पण कर दिया। अतः भगवदर्पित होनेके कारण उस तपस्याके फलस्वरूप उन्हें भगवत्प्राप्ति हुई।

(२) 'मदर्थ कर्म' वे कर्म हैं, जो प्रारम्भसे ही भगवान्‌के लिये किये जायँ या भगवत्सेवारूप हों। भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म करना, भगवान्‌की आज्ञा मानकर कर्म करना और भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये कर्म करना—ये सभी भगवदर्थ कर्म हैं।

(३) 'मत्कर्म'से उन कर्मोंका संकेत है, जो स्वयं भगवान्‌के परायण होकर मात्र भगवान्‌के लिये किये जायँ।

भक्तियोगी जैसे अपनी क्रियाओंको भगवान्‌के अर्पण करके कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है, वैसे ही ज्ञानयोगी क्रियाओंको प्रकृतिसे होती हुई समझता है और अपनेको उनसे सर्वथा असङ्ग और निर्लिप्त समझता है। गीतामें इस बातको अनेक प्रकारसे कहा गया है। यथा—

(१) इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके अर्थोंमें बरत रही हैं (५। ९)।

(२) प्रकृतिके कार्यरूप इन्द्रियाँ प्रकृतिके कार्यरूप इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं (३। २७-२८; १३। २९)।

(३) 'नवद्वारे पुरे संन्यस्य—नौ द्वारोंवाले प्रकृतिके कार्यरूप शरीरमें न्यास करके' (५। १३)।

(४) 'स्वभावस्तु प्रवर्तते—प्रकृति ही सब कुछ करती है' (५। १४)।

(५) अठारहवें अध्यायके १४वें और १५वें श्लोकोंमें कर्मोंके सम्पादनमें पाँच हेतु गिनाये गये। उनमेंसे एक हेतु 'कर्ता' भी है। ज्ञानयोगी अपनेको सर्वथा असङ्ग और निर्लेप मानकर उन क्रियाओंका कर्ता नहीं मानता तो उस स्थितिमें क्रियाओंके होनेमें पाँचों हेतु प्रकृतिजन्य ही हुए।

भावार्थ

इसी अध्यायके ६ठे श्लोकमें 'सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य' (सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके), 'मत्पराः' (मेरे परायण होकर) और 'अनन्येन योगेन मां ध्यायन्तः' (अनन्ययोगसे मेरा निरन्तर चिन्तन करते हुए) पदोंसे भगवान् अपने प्रेमी सगुणोपासकोंके लक्षण बतला चुके हैं। उन सभी लक्षणोंका समाहार यहाँ एक पद 'मय्यावेशितचेतसाम्' (मुझमें चित्त लगानेवाले) में किया गया है। ग्यारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें ऐसे भक्तको 'मामेति' पदसे अपनी प्राप्ति बतलायी गयी। यहाँ भगवान् भक्तोंके लिये एक विशेष बात कहते हैं कि 'भक्तोंको विघ्न-बाधाओंसे बचाकर उनका मैं स्वयं अतिशीघ्र मृत्युमय संसारसमुद्रसे उद्धार कर देता हूँ।'

अन्वय

पार्थ तेषाम् मयि आवेशितचेतसाम् अहम् नचिरात् मृत्युसंसारसागरात् समुद्धर्ता भवामि ॥ ७ ॥

पार्थ = हे अर्जुन !

पृथाका पुत्र होनेसे अर्जुनका एक नाम 'पार्थ' भी है।

अर्जुनका 'पार्थ' सम्बोधन भगवान्‌के साथ प्रियता और घनिष्ठ सम्बन्धका द्योतक है। गीतामें भगवान्‌के वचनोंमें ३८ बार 'पार्थ' सम्बोधनका प्रयोग हुआ है। यह अन्य सभी सम्बोधनोंकी अपेक्षा अधिक है। इसके बाद सबसे अधिक

प्रयोग 'कौन्तेय' सम्बोधनका हुआ है, जिसकी आवृत्ति २४ बार हुई है।

गीतामें अर्जुनके प्रति भगवान्‌को जब कोई विशेष बात कहनी होती है या आश्वासन देना होता है या उनके प्रति भगवान्‌का प्रेम विशेषरूपमें उमड़ता है, तब भगवान् उन्हें 'पार्थ' कहकर पुकारते हैं। इस सम्बोधनके प्रयोगद्वारा मानो वे यह याद दिलाते हैं, 'तुम मेरे बुआके लड़के ही नहीं हो, अपितु मेरे प्यारे भक्त और सखा भी हो (गीता ४ । ३)। अतः तुम्हें मैं विशेष गुह्यतम बातें बतलाता हूँ और जो कुछ भी कहता हूँ; तुम्हारे हितके लिये कहता हूँ, सत्य कहता हूँ।'

'पार्थ' सम्बोधनसे भगवान् विशेषरूपसे यहाँ इस श्लोकमें यह लक्ष्य कराते हैं कि 'अपने प्रेमी भक्तोंका मैं स्वयं तत्काल उद्धार कर देता हूँ।' यही नहीं, अपने भक्तका उद्धार करके भगवान् अति प्रसन्न होते हैं।

जैसे भगवान्‌को 'पार्थ' सम्बोधन बड़ा प्रिय था, वैसे ही अर्जुनको 'कृष्ण' नाम बड़ा प्रिय था। अर्जुनने गीतामें ९ बार भगवान्‌को 'कृष्ण' नामसे सम्बोधित किया है। अन्य सभी नामों-की अपेक्षा भगवान्‌के इस नामका प्रयोग गीतामें सबसे अधिक हुआ है।

गीताके निम्नाङ्कित श्लोकोंमें 'पार्थ' सम्बोधन आया है और वहाँ वह क्या विशेषता रखता है—इसका दिग्दर्शन कराया जाता है—

अध्याय-श्लोक	विशेषता
१ । २५	अर्जुनके अन्तःकरणमें अपने आत्मीय जनोंके प्रति जो मोह विद्यमान था, उसको जाग्रत् करनेके लिये (भगवान्के द्वारा अर्जुनका सर्वप्रथम सम्बोधन 'पार्थ')।
२ । ३	पृथाके संदेशको स्मृति दिलाकर अर्जुनके अंदर क्षत्रियोचित वीरताका भाव जाग्रत् करनेके लिये।
२ । २१	आत्माके नित्य और अविनाशी स्वरूपको लक्ष्य करानेके लिये।
२ । ३२	कर्तव्यकी स्मृति दिलानेके लिये।
२ । ३९	कर्मयोगके साधनकी ओर लक्ष्य करानेके लिये।
२ । ४२	कर्मयोगमें मुख्य बाधा सकाम भावकी है, उसे हटानेके उद्देश्यसे उसकी हानियोंकी ओर अर्जुनका ध्यान आकृष्ट करनेके लिये।
२ । ५५	निष्काम भावसे बुद्धि स्थिर हो जाती है—इसकी ओर लक्ष्य करानेके लिये।

२ । ७२ निष्काम भावसे युक्त साधकको ब्रह्ममें ही स्थिति होती है, यह बतलानेके लिये ।

३ । १६ अपने कर्तव्यका पालन न करनेमें कितना दोष है, इस ओर लक्ष्य करानेके लिये ।

३ । २२ अपना उदाहरण देकर भगवान् अन्वयमुखसे कर्तव्य-पालनकी आवश्यकताकी ओर ध्यान दिलाते हैं ।

३ । २३ विहित कर्मोंका पालन न करनेसे कितनी हानि होती है, इस ओर लक्ष्य करानेके लिये ।

४ । ११ अपने स्वभावका रहस्य बतलानेके लिये ।

४ । ३३ तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर कुछ भी करना, पाना और जानना शेष नहीं रहता, इस महत्त्वपूर्ण स्थिति-की ओर ध्यान दिलानेके लिये ।

६ । ४० अत्यधिक घबराये हुए अर्जुनको आश्वासन देते हुए एवं बड़े प्यारसे धीरज बँधाते हुए भगवान् उन्हें 'पार्थ' और 'तात' कहकर पुकारते हैं । 'तात' सम्बोधन गीतामें केवल इसी जगह आया है ।

७ । १ सम्मरत्वको विशेषता कृपापूर्वक बिना पूछे ही बतलानेके लिये ।

७ । १० 'उत्पत्ति-विनाशरहित मैं ही सब प्राणियोंका कारणरूप बीज हूँ'—यह बात बतलानेके लिये।

अर्जुनके प्रश्नपर आठवें अध्यायका प्रसङ्ग प्रारम्भ हुआ नहीं तो भगवान् अपनी ओरसे नवें अध्यायका प्रसङ्ग ही प्रारम्भ करते। अन्तकालीन गतिके विषयमें अर्जुनका प्रश्न था, अतः उसे विशेषतासे ध्यान देकर सुननेके लिये इस अध्यायमें पाँच बार 'पार्थ' सम्बोधन प्रयुक्त हुआ है।

८ । ८ अन्तकालीन गति भगवान्‌में ही हो—इस ओर लक्ष्य करानेके लिये।

८ । १४ अपने अनन्य प्रेमी भक्तोंके लिये अपनेको सुलभ बतलानेके लिये। 'सुलभ' शब्द गीतामें एक ही बार आया है।

८ । १९ जबतक भगवत्प्राप्ति नहीं होगी, तबतक जन्म-मरण-रूप बन्धन रहेगा ही—इस बातकी ओर लक्ष्य करानेके लिये।

८ । २२ जन्म-मरणरूप बन्धनसे छूटनेके लिये अनन्यभक्ति ही सरल उपाय है—यह बतलानेके लिये।

८ । २७ शुक्ल और कृष्ण मार्गोंको जाननेसे निष्कामभावकी प्राप्ति सहज ही हो सकती है—यह बतलानेके लिये।

९ । १३ साधकोंके लिये दैवी सम्पत्तिकी आवश्यकता दिखलानेके लिये ।

९ । ३२ अपनी शरणागतवत्सलता प्रकट करनेके लिये—कोई भी कैसा ही पापी क्यों न हो, बिना किसी जाति-आश्रमके भेदसे मेरी शरण होनेपर उसे मेरी प्राप्ति हो जायगी—यह बतलानेके लिये ।

१० । २४ संसारसे उद्धार करनेवाले गुरु ही होते हैं। बृहस्पतिजी सबसे श्रेष्ठ गुरु हैं, इसलिये संसारका बन्धन छुड़ाकर उद्धार करानेवाली मेरी विभूति, मेरे ही स्वरूप हैं—यह बतलानेके लिये ।

११ । ५ अर्जुनमें कृतज्ञता, विनम्रता और निरभिमानता आदि गुणोंको देखकर भगवान्‌का कृपास्रोत उनकी ओर उमड़ पड़ा, अतः इस एकादश अध्यायमें वर्णित अपने अनन्त रूपके प्रभाव और ऐश्वर्यका दर्शन उन्हें कराते हैं ।

१२ । ७ का भाव ऊपर लिखा जा चुका है ।

१६ । ४ संक्षेपसे आसुरी सम्पत्तिका वर्णन करते हुए उससे सावधान करनेके लिये ।

१६ । ६ विस्तारसे आसुरी सम्पदाका रूप बतानेके लिये; क्योंकि साधकके लिये आसुरी सम्पदाका त्याग अत्यन्त आवश्यक है ।

१७ । २६ अर्जुनको आसुरी सम्पदासे दूर रखकर सत्की ओ लक्ष्य करानेके लिये—सत् (परमात्मा) की ओ चलनेसे सभी कर्म सत्कर्म और सभी भाव सद्भा हो जाते हैं, यह बतलानेके लिये ।

१७ । २८ श्रद्धासहित कर्म करना ही दैवी सम्पदा है, इस ओ लक्ष्य करानेके लिये ।

गीताके अठारहवें अध्यायमें पूर्व अध्यायोंके सभी उपदेशो का सार होनेसे भगवान्‌के द्वारा ८ बार 'पार्थ' सम्बोधन प्रयुक्त हुआ है ।

१८ । ६ कर्मयोगके विषयमें अपना निश्चित किया हुआ उत्तम मत बतलानेके लिये ।

१८ । ३० सात्त्विक बुद्धि धारण करानेके लिये। जितने काम होते हैं, बुद्धिके प्रकाशसे ही होते हैं, अतः साधकको चाहिये कि हर समय अपनी बुद्धिको सात्त्विक ही रखनेका प्रयास रखे ।

१८ । ३१ राजसी बुद्धिका त्याग करानेके लिये ।

१८ । ३२ तामसी बुद्धिका त्याग करानेके लिये ।

१८ । ३३ सात्त्विक धृति धारण करानेके लिये । सात्त्विक धृति साधकके लिये विशेष आवश्यक है; अतः साधकको चाहिये कि हर समय सात्त्विक धृति धारण करनेका प्रयास करे ।

१८ । ३४ राजसी धृतिका त्याग करानेके लिये ।

१८ । ३५ तामसी धृतिका त्याग करानेके लिये ।

१८ । ७२ उपदेशके अन्तिम श्लोकमें 'पार्थ' सम्बोधन देकर उसकी स्थिति जाननेके लिये सर्वज्ञ होते हुए भी प्रश्न करते हैं कि तुमने मेरे उपदेशको ध्यानपूर्वक सुना कि नहीं ? यदि मेरे उपदेशको ध्यानपूर्वक सुना होगा तो तुम्हारा मोह अवश्य ही नष्ट हो जाना चाहिये ।

तेषाम् मयि आवेशितचेतसाम् = उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका

जिन साधकोंका लक्ष्य, उद्देश्य, ध्येय भगवान् ही बन गये हैं, जिन्होंने भगवान्‌में ही अनन्य प्रेमद्वारा अपने चित्तको लगा

दिया है, इस प्रकार जो चित्तको भगवान्में लगाकर स्वयं भगवान्में ही लग गये हैं, उनके लिये यह पद आया है।

अहम्=मैं
नचिरात्=शीघ्र ही
मृत्युसंसारसागरात्=मृत्युरूप संसार-समुद्रसे

जैसे सागरमें जल-ही-जल है, वैसे ही संसारमें मृत्यु-ही-मृत्यु है। इसमें पैदा होनेवाली एक भी वस्तु ऐसी नहीं है जो कभी क्षणभरके लिये भी मृत्युके थपेड़ोंसे बचती हो। इसलिये संसार-सागरको 'मृत्यु-संसार-सागर' कहा गया है।

मनुष्यमें स्वभावतः अनुकूल-प्रतिकूल—दोनों वृत्तियाँ रहती हैं। संसारकी घटना, स्थिति तथा प्राणी-पदार्थोंमें अनुकूल-प्रतिकूल वृत्ति राग-द्वेष उत्पन्न करके मनुष्यको संसारसे बाँध देती है (गीता ७ । २७)। यहाँतक देखा जाता है कि साधक भी सम्प्रदाय-विशेष और संत-विशेषमें अनुकूल-प्रतिकूल भावना करके राग-द्वेषके शिकार बन जाते हैं, जिससे वे संसार-समुद्रसे शीघ्र पार नहीं हो पाते। गीतामें भगवान्ने स्थान-स्थानपर इन द्वन्द्वों (अनुकूल-प्रतिकूल भावनाओं)से मुक्त होनेपर ही जोर दिया है—जैसे 'निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो' (५ । ३); 'ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः' (७ । २८); 'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः' (१५ । ५); 'न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते' (१८ । १०); 'रागद्वेषौ

व्युदस्य च' (१८ । ५१)। इसलिये यदि साधक भक्त अपनी सारी अनुकूलता परमात्मामें कर ले—अर्थात् एकमात्र भगवान्से ही अनन्य प्रेमका सम्बन्ध जोड़ ले एवं सारी प्रतिकूलता संसारमें कर ले अर्थात् संसारसे सर्वथा विमुख हो जाय तो वह इस संसार-बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो सकता है। संसारमें अनुकूल-प्रतिकूल—ये दो वृत्तियाँ रखना ही संसारमें बँधना है।

जीव परमात्माका ही अंश है, परंतु उसने प्रकृति अर्थात् शरीरसे सम्बन्ध मान रखा है। जड प्रकृति और चेतन परमात्माके सम्बन्धसे ही जीवमें 'अहं' अर्थात् 'मैं'की स्फुरणा होती है। इस 'मैं'का सम्बन्ध जीवने भूलसे शरीरके साथ इतनी घनिष्ठतासे जोड़ लिया कि वह अपने आपको—'शरीर मैं हूँ'—इस प्रकार मानने लग गया। शरीरमें अहंता और शरीरसे सम्बन्धित प्राणी-पदार्थोंमें ममता करके संसारमें बँध गया। प्रकृतिके कार्य शरीर-संसारादिसे किसी प्रकारका भी सम्बन्ध जोड़ना जन्म-मरणका हेतु है (गीता १३ । २१)। यदि साधक ठीक विचार-पूर्वक 'मैं'का आधार समझ ले तो संसारसे मुक्त होकर कृतकृत्य हो सकता है। 'मैं'का मूल आधार परमात्मा है, जो नित्य और चेतन है। जीव परमात्माका अंश होनेके कारण परमात्मासे अभिन्न है। शरीरके साथ 'मैं'का सम्बन्ध जोड़ लेनेसे जीवको परमात्माके साथ अपनी अभिन्नताकी विस्मृति हो गयी है—इस विस्मृतिको हटाकर वह परमात्मामें अपनी स्वतःसिद्ध अभिन्न स्थितिका

इस पदके अन्तर्गत भगवान्का यह भाव भी है कि 'वह मेरी कृपासे साधनकी सारी विघ्न-बाधाओंको पार करके मेरी कृपासे ही मेरी प्राप्ति कर लेता है (१८ । ५६—५८); साधनकी कमीको पूरी कराके उसे अपनी प्राप्ति करा देता हूँ (९ । २२); उन्हें अपने समग्ररूपको समझनेकी शक्ति देता हूँ (१० । १०); उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं तत्त्वज्ञानसे उनके अज्ञानजनित अन्धकारका नाश कर देता हूँ (१० । ११) और उनको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर देता हूँ (१८ । ६६)।'

सम्बन्ध

भगवान्ने दूसरे श्लोकमें सगुण-उपासकोंको श्रेष्ठ योगी बतलाया तथा छठे और सातवें श्लोकोंमें 'ऐसे भक्तोंका मैं उद्धार करता हूँ' यह बात कही। अब इस श्लोकमें अर्जुनको ऐसा श्रेष्ठ योगी बनानेके उद्देश्यसे ही आज्ञा देते हैं—

श्लोक

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

भावार्थ

बुद्धिको भगवान्में प्रवेश करा देनेका अर्थ है कि बुद्धिमें 'भगवान् ही प्राप्तव्य हैं' ऐसा निश्चय रहे और मनको उनमें स्थापित करनेका भाव यह है कि प्रेमपूर्वक चिन्तन भगवान्का

ही रहे। मन-बुद्धि संसारमें लगे रहनेके कारण भगवान् अत्यन्त समीप होते हुए भी अत्यन्त दूर प्रतीत होते हैं। मन-बुद्धिमें संसारका जितना महत्त्व होगा, उतनी ही भगवान्से दूरी दिखायी देगी। इसलिये अर्जुनको भगवान् आज्ञा देते हुए कहते हैं कि 'तू मन-बुद्धिको संसारके किसी प्राणी-पदार्थमें न लगाकर मुझमें ही लगा; इस प्रकार मन-बुद्धि सर्वथा मुझमें लगानेसे तू मुझे प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।' साधक जब स्वयं भगवान्में लग जाता है अर्थात् उसकी 'मैं'की मान्यतामें 'मैं केवल भगवान्का ही हूँ' ऐसा भाव हो जाता है, तब उसके मन-बुद्धि स्वतः भगवान्में लग जाते हैं। ऐसे साधकको स्मृतिमें तो स्मृति है ही, स्पष्टतः स्मृति न रहनेपर भी सम्बन्धको विस्मृति कभी नहीं होती।

साधन-सम्बन्धी विशेष बात

भगवान्की प्राप्ति किसी साधन-विशेषसे नहीं होती। साधन शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके आश्रयसे ही होता है। शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ आदि प्रकृतिके कार्य होनेसे जड वस्तुएँ हैं। जड पदार्थोंके द्वारा भगवान् खरीदे नहीं जा सकते; क्योंकि सम्पूर्ण प्रकृतिके पदार्थ मिलकर भी चिन्मय परमात्माके तुल्य नहीं हो सकते।

साधक जिस क्षेत्रमें रहता है, उसे उसी क्षेत्रमें पुरुषार्थसे ही अभिलषित पदार्थ मिलते दीखते हैं। अतः स्वाभाविक ही उसका

यह भाव रहता है कि 'पुरुषार्थके द्वारा ही पदार्थ मिलते हैं।' इसलिये भगवत्प्राप्तिके सम्बन्धमें भी वह यही सोचता है कि 'मेरे साधनसे ही भगवत्प्राप्ति होगी।'

'मनु-शतरूपा और पार्वतीको तपस्यासे ही अपने इष्टकी प्राप्ति हुई।'—इतिहास आदिमें ऐसी बातें पढ़ने-सुननेसे साधकके अन्तःकरणपर ऐसी छाप पड़ती है कि साधनसे ही भगवान् मिलते हैं और उसकी यह धारणा क्रमशः दृढ़ होती रहती है। किंतु साधनसे ही भगवान् मिलते हों, ऐसी बात है नहीं। तपस्यादि साधनोंसे जहाँ प्राप्ति हुई दीखती है, वहाँ भी जडके साथ माने हुए सम्बन्धका सर्वथा त्याग होनेसे ही वह हुई है, न कि साधनोंसे। साधनकी सार्थकता असाधनको दूर करनेमें अर्थात् जडके साथ जोड़े हुए सम्बन्धका त्याग करनेमें है। भगवान् सदा-सर्वदा सबको स्वतः प्राप्त हैं ही, किंतु जडके साथ जोड़े हुए सम्बन्धका सर्वथा त्याग होनेपर उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। अतः अपने साधनसे जो साधक भगवत्प्राप्ति मानते हैं, वे बड़ी भूलमें हैं। 'साधनोंका तात्पर्य जडताका त्याग करानेमें है'—इस रहस्यको न समझकर साधनमें ममता करनेसे और उसका आश्रय लेनेसे जडके साथ सम्बन्ध बना रहता है। जबतक जडताका किंचित् भी आदर है, तबतक भगवत्प्राप्ति असम्भव है। इसलिये साधकको चाहिये कि शरीर, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंसे और उनके द्वारा होनेवाले साधनसे भगवद्-

प्राप्ति होगी—ऐसी मान्यता न रखकर जडताके साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर ले।

जडताके साथ सम्बन्धका सर्वथा त्याग करनेके तीन मुख्य साधन हैं—

(१) ज्ञानयोग—विवेकके द्वारा जडताका त्याग करना।

'शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है। शरीरके अन्तर्गत क्रमशः स्थूल-शरीर, सूक्ष्म-शरीर एवं कारण-शरीर हैं। कारण-शरीर भी शरीर है, यह मेरा नहीं है और यह मैं नहीं हूँ। ये सब केवल प्रकृतिके हैं।'—ऐसे विवेकके पूर्ण स्थिर होनेसे जो अपना स्वरूप नहीं है उसकी निवृत्ति और नित्यसिद्ध स्वरूपकी प्राप्ति स्वतः हो जायगी।

(२) कर्मयोग—प्राणिमात्रकी सेवामें जड पदार्थोंको लगाकर सेवाके द्वारा जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करना।

शास्त्रविहित क्रियाका नाम कर्म है। समताका नाम योग है। कर्म करते हुए अन्तःकरणमें समता रहनेसे उसे कर्मयोग कहते हैं—'समत्वं योग उच्यते' (गीता २। ४८)। यह साधकके लिये कर्मयोगके आचरणकी प्रक्रिया बतलायी गयी है।

कर्मयोगका साधक निष्कामभावसे क्रिया करेगा तो पाप-मयी क्रिया कर सकता नहीं; क्योंकि पाप होनेमें हेतु है—

कामना (गीता ३ । ३७) और वह उसका उद्देश्य नहीं। शुभ क्रियाएँ फलकी इच्छा न होनेसे बाँधनेवाली नहीं होतीं।

कर्मयोगीको सत्सङ्ग, सत्-शास्त्र और सत्-विचारसे इस बातकी जानकारी है कि पदार्थ, शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि आदि उसके अपने नहीं हैं (गीता ५ । ११)। जो अपने नहीं हैं वे अपने लिये कैसे हो सकते हैं ? ये सब जगत्के हैं और जगत्के लिये ही हैं । भूलसे इनको अपना और अपने लिये मान लिया था । अतः जगत्के पदार्थोंको जगत्की सेवामें लगाना ही ईमानदारी है । उनसे अपने लिये कुछ भी चाहना बेईमानी है । जिसकी वस्तु है, उसकी सेवामें लगा दी तो अपनेमें सेवकपनेका अभिमान भी कैसे रहे । भोक्तृत्व अपने लिये कुछ भी न चाहनेसे रहता नहीं । कर्तृत्व भी अपने लिये न करनेसे बहुत क्षीण हो जाता है । इस प्रकार अपने लिये कुछ न चाहने और न करनेसे योग सिद्ध हो जायगा । इस योगकी सिद्धि होनेपर शान्तिकी प्राप्ति हो जायगी । शान्ति परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु है (गीता ६ । ४)। उस शान्तिका उपभोग न होनेसे सूक्ष्म कर्तृत्व भी मिट जायगा । इस प्रकार वह अन्य साधनका अवलम्बन किये बिना ही अपनेमें अपने स्वरूपको पा जायगा (गीता ४ । ३८)।

(३) भक्तियोग—भगवान्‌में मैं-मेरेपनके भावको अखण्डरूपसे लगाये रखकर जड संसारसे सर्वथा विमुख हो जाना।

भक्तियोगी प्रारम्भसे किसी वस्तुको अपनी मानता ही नहीं। वह तो मात्र वस्तु, व्यक्ति, शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन और बुद्धिको केवल प्रभुकी ही वस्तु मानता है। प्रभुने स्वीकार कर ली अर्थात् मैंने अपनी मूर्खता मिटा ली—इसमें कितना आनन्द है। उस आनन्दसे विभोर होकर वह (अहं) अपने आप भगवान्के समर्पित हो जाता है अर्थात् भगवान्के हाथकी कठपुतली बन जाता है। इस प्रकार समर्पित होनेपर भगवान्की ओरसे जो मिलेगा, वह किसी ज्ञानयोगी या कर्मयोगीसे कम कैसे होगा (गीता १०। १०-११)। उसे मिलेगा केवल विशुद्ध प्रेम, जिस प्रेमके आस्वादनके लिये भगवान् भी लालायित रहते हैं। ऐसे प्रेमका परस्पर आदान-प्रदान होता रहता है। इससे वह प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता रहता है।

अन्वय

मयि मनः आधत्स्व मयि एव बुद्धिम् निवेशय अतः ऊर्ध्वम् मयि एव निवसिष्यसि संशयः न ॥ ८ ॥

मयि मनः आधत्स्व मयि एव बुद्धिम् निवेशय=मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा;

भगवानके साथ जिनका नित्य संयोग है, उनसे कभी वियोग होता ही नहीं, वे ही भगवान्के मतमें वास्तवमें 'उत्तम योगवेत्ता' हैं। अर्जुनको निमित्त बनाकर सभी साधकोंको योगवेत्ता बनानेके उद्देश्यसे भगवान् आज्ञा देते हैं कि 'मैं ही

परम श्रेष्ठ और परम प्राप्य हूँ—इस निश्चयके रूपमें बुद्धि मुझमें लगा दे और मुझको ही अपना प्यारे-से-प्यारा मेरे ही चिन्तनमें अपने मनको लगा दे।'

मन-बुद्धि लगानेका तात्पर्य यह है कि अभीतक जिसका जड संसारमें ममता, आसक्ति, सुख-भोगकी इच्छा, आदिके कारण बार-बार संसारका ही चिन्तन करता है एवं संसारमे ही ठीक-बेठीकका निश्चय करती है, जिसके कारण जीव संसारमें फँसा हुआ है; उस मनको संसारसे बार-बार भगवान्में लगाये एवं बुद्धिके द्वारा दृढ़तासे निश्चय कि 'मैं केवल भगवान्का ही हूँ और केवल भगवान् ही मेरे तथा सर्वोपरि, परम श्रेष्ठ, परम प्रापणीय भगवान् ही हैं।' बार-बार अभ्यास करते रहनेसे संसारका चिन्तन और आ क्रमशः घटने लगता है एवं अन्तमें सर्वथा नष्ट हो जाता तथा एक भगवान्के साथ ही मेरापन रह जाता है। यही मन बुद्धिका भगवान्में लगना है।

मन-बुद्धि लगानेमें बुद्धिका लगाना ही मुख्य है। किसी विषयमें बुद्धिका ही निश्चय पहले होता है और फिर बुद्धिके उस निश्चयको मन स्वीकार कर लेता है। जिन पुरुषोंका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति नहीं है, उनकी भी मन-बुद्धि वे जिस विषयमें उन्हें लगाना चाहेंगे, उस विषयमें लग सकती हैं, और उस विषयमें मन-बुद्धिके लग जानेपर शक्तियों और सिद्धियोंकी तो प्राप्ति हो

ती है, किंतु भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य न होनेसे भगवत्प्राप्ति नहीं सकती। अतः साधकको चाहिये कि बुद्धिसे यह दृढ़ निश्चय ले कि 'मुझे भगवत्प्राप्ति ही करनी है।' इस निश्चयमें बड़ी क है। भगवान्ने दूसरे अध्यायके ४१वें श्लोकमें व्यवसात्मिका बुद्धिकी बड़ी प्रशंसा की है। ऐसी निश्चयात्मिका द्र होनेमें भोग और संग्रहमें सुखकी आशा ही बहुत बड़ी धा है। संसारमें सुखकी आशासे ही मनुष्यकी वृत्तियाँ धनन आदिको लक्ष्य करती रहती हैं, इसलिये उसकी न्त बुद्धियाँ हो जाती हैं। इस दृढ़ निश्चयमें इतनी पवित्रता कि दुराचारी-से-दुराचारी पुरुषको भी भगवान् साधु माननेके ये अर्जुनसे कहते हैं। इस निश्चयके प्रभावसे वह शीघ्र ही र्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परमशान्तिको प्राप्त र लेता है (गीता ९। ३०-३१)।

'मैं केवल भगवान्का ही हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं'—साधककी दृष्टिमें ऐसा निश्चय बुद्धिमें होता है, परंतु बात वास्तवमें ऐसी नहीं है। बुद्धिमें ऐसा निश्चय दीखनेपर भी साधक स्वयं भगवान्में स्थित है, उसे इस बातका पता नहीं होता। वह इसे जानता नहीं, पर वास्तवमें बात यही है। भगवान्में स्थित होनेकी पहचान यह है कि वह इस सम्बन्धको कभी भूलता ही नहीं। यदि केवल बुद्धिकी ही बात हो तो भूल भी सकता है, पर मैंपनकी बातको कभी

भूलता नहीं। उदाहरणके लिये कोई शिष्य बुद्धिसे निश्चय लेता है कि मैं अमुक गुरुजीका शिष्य हूँ—वह उस ... लिये कोई अभ्यास नहीं करता, तो भी वह निश्चय उसके ... अटल रहता है—स्मृतिमें तो स्मृति है ही, विस्मृतिमें सम्बन्धका अभाव नहीं है। क्योंकि सम्बन्धका निश्चय ... है। गुरुके साथ शिष्यका जब माना हुआ सम्बन्ध भी ... रहता है, तब भगवान्‌के साथ जो नित्य सम्बन्ध है उस... विस्मृति कैसे हो सकती है? इसी प्रकार बुद्धिसे यह नि... होनेपर कि 'मैं केवल भगवान्‌का हूँ, केवल भगवान् ही ... हैं',—यह निश्चय साधकके भीतर अटल रहता है। अ... वह स्वयं भगवान्‌में स्थित है, ऐसा निश्चय होनेपर मन... भगवान्‌में स्वतः लग जाती हैं।

मन-बुद्धि दोनोंमें अन्तःकरण-चतुष्टयका अन्तर्भाव है मनके अन्तर्गत चित्त और बुद्धिके अन्तर्गत अहंकार है। म... बुद्धि भगवान्‌में लगनेसे अहंकारका उद्गम-स्थान जो 'अहं' ... अर्थात् 'स्वयं' है, वह भगवान्‌में लग जायगा, इसके परिण... स्वरूप—'मैं केवल भगवान्‌का ही हूँ और केवल भगवान् ... मेरे हैं'—ऐसा भाव हो जायगा। इस भावमें निर्विकल्प ... होनेसे मैंपन परमात्मामें लीन हो जायगा।

भगवान्‌में मेरेपनके भावको स्थिर करनेके सुगम उपाय

वैसे साधारणतया हमारी अहंता (मैंपन) शरीर और [म]न-बुद्धिके साथ दीखती है, परंतु वास्तवमें उनके साथ है [न]हीं। बचपनसे लेकर आजतक मैं वही हूँ; पर शरीर, मन-बुद्धि, [इ]न्द्रियाँ आदि सब-के-सब बदल गये। अतः 'मैं बदलनेवाला [न]हीं हूँ'—इस बातको आजसे ही दृढ़तापूर्वक मान ले। (वैसे [सा]धारणतया मानना बुद्धिसे होता है, पर यहाँ स्वयंसे माननेकी [बा]त है।)

कैसे मानें? एक ओर मैं नहीं बदला—यह सभीका [प्रत्]यक्ष अनुभव है और आस्तिकोंके एवं भगवान्‌में श्रद्धा [रख]नेवालोंके भगवान् कभी नहीं बदले; दूसरी ओर शरीर-[म]न-बुद्धि-इन्द्रियाँ आदि सब-के-सब बदल गये और दीखनेवाला [सं]सार बदलता हुआ दीखता है। इसलिये न बदलनेवाला 'मैं' [औ]र भगवान् दोनों एक जातिके हैं, जब कि बदलनेवाला शरीर [औ]र संसार दोनों एक जातिके हैं। न बदलनेवाला 'मैं' और [पर]मात्मा—दोनों ही व्यक्तरूपसे नहीं दीखते, जब कि [ब]दलनेवाला शरीर और संसार दोनों ही व्यक्तरूपसे प्रत्यक्ष [दी]खते हैं। अतः बदलनेवाला मैं नहीं हूँ, यह प्रत्यक्ष है।

'मैं'के होनेमें संदेह नहीं, मैंपनका अभाव भी नहीं। [व]ास्तवमें मैं क्या हूँ, इसका तो पता नहीं; पर मैं हूँ, यह निस्सं-

भगवान् कहते हैं कि 'हे अर्जुन ! तू मुझमें ही निव
करेगा—इसमें संशय नहीं है।' इससे यह आभास मिलता
कि अर्जुनके मनमें संशयकी गुंजाइश है, तभी तो भगवान्
संशयः' पद देते हैं; यदि संशय होनेकी गुंजाइश ही न हो
तो इस पदके देनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

मनुष्यके हृदयमें प्रायः यह बात जँची हुई है कि '
अच्छे होंगे, आचरण अच्छे होंगे, एकान्त आदिका सेवन क
ध्यान लगायेंगे, तब परमात्माकी प्राप्ति होगी और यदि
साधन नहीं हुए तो कल्याण असम्भव है',—इस संशयको
करनेके लिये भगवान् कहते हैं कि 'मेरी प्राप्तिका उद्दे
रखकर मन-बुद्धिको मुझमें लगाना जितना मूल्यवान् है, उ
मूल्यवान् ये सब साधन नहीं हैं। अतः मन-बुद्धि मुझमें लगा
निश्चय ही मेरी प्राप्ति होगी, इसमें कोई संशय नहीं है।' जब
बुद्धिमें संसारका महत्त्व है, मनसे संसारका चिन्तन होता र
है, तबतक वास्तविक स्थिति परमात्मामें होते हुए भी संसा
ही स्थिति है। संसारका सङ्ग रहनेसे संसारचक्रमें घूमना प
है। उपर्युक्त पदोंसे अर्जुनका संशय दूर करते हुए
कहते हैं कि 'तू यह चिन्ता मत कर कि मुझमें मन-बुद्धि सर्व
लग जानेपर तेरी स्थिति कहाँ होगी। जिस क्षण तेरी मन-बु
एकमात्र मुझमें सर्वथा लग जायँगी, उसी क्षण तू मुझमें
निवास करेगा; क्योंकि तब तेरी मन-बुद्धिमें मेरे प्रति

और मेरा ही आदर होगा। अतः तेरी स्थिति मेरे सिवा अन्यत्र कहाँ होगी ? अर्थात् मुझमें ही होगी।

एवं जब मन-बुद्धिको मुझमें ही लगा दिया, तब अन्तकालमें भी मेरा ही चिन्तन होगा, अतः निस्संदेह मेरी ही प्राप्ति होगी। क्योंकि अन्तकालमें मन जिसका चिन्तन करेगा, उसीकी प्राप्ति होगी (गीता ८। ६)।

यहाँ साधक भगवान्से यह प्रश्न कर सकता है—'मन-बुद्धि आपमें लगानेके बाद मेरे कर्मोंका क्या फल होगा ? मुझे सिद्धि प्राप्त होगी कि नहीं ? मेरे आचरण अच्छे होंगे कि नहीं ? मेरे भाव कैसे होंगे ? मेरी गति क्या होगी ? आदि-आदि।'

भगवान् कहते हैं—'मन-बुद्धि मुझमें लगानेपर तुझे यह विचार करनेकी किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है। तू तो मुझमें ही निवास करेगा, इसमें संशय नहीं है।'

मन-बुद्धि भगवान्में लगानेके सिवा साधकके लिये और कोई कर्तव्य नहीं है। भगवान्में बुद्धि लगनेपर वह संसारके आश्रयसे रहित हो जायगी, मन भगवान्में लगनेसे संसारका चिन्तन नहीं होगा—संसारका किसी प्रकारका आश्रय और चिन्तन न रहनेसे भगवान्का आश्रय और भगवान्का ही चिन्तन होगा। भगवान् कहते हैं—'मेरे आश्रय और चिन्तनसे मेरी ही

प्राप्ति होगी। अतः मन-बुद्धि मुझमें लगनेपर निस्संदेह तू मुझमें ही निवास करेगा।'

इसका अभिप्राय यह है कि 'यदि तू मन-बुद्धि मुझमें लगायेगा तो तेरी अचल श्रद्धा मैं अपने प्रति कर दूँगा।' सातवें अध्यायके २१वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि 'सकाम साधक जिस-जिस देवताको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उस साधकको उस-उस देवताके प्रति श्रद्धाको मैं स्थिर कर देता हूँ।' जब सकाम साधककी भी श्रद्धा उस देवताके प्रति भगवान् अचल कर देते हैं, तब अपनेमें मन-बुद्धि लगानेवालेकी श्रद्धाको अपनेमें क्यों नहीं अचल कर देंगे? अवश्य कर देंगे। भगवान्‌की कृपासे साधकको निर्दोष श्रद्धा प्राप्त होती है। पूर्ण श्रद्धा हो जानेपर तत्काल ही परम कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है।

जीवात्मा परमात्माका अंश है ही (गीता १५। ७)। मन-बुद्धिके राग-द्वेषपूर्वक संसारमें लगनेसे ही जीव अपनेको भगवान्‌से विमुख मानता है। यदि वह मन-बुद्धिको सर्वथा भगवान्‌में ही लगा दे तो उसकी स्वतः परमात्मामें ही स्थिति रहेगी; क्योंकि अंश अंशीसे अलग नहीं रह सकता। भगवान् यहाँ कहते हैं कि 'हे अर्जुन! जब तुमने मन-बुद्धिको मुझमें ही लगा दिया, तब फिर तुम्हारी अपनी स्थिति स्वतः मुझमें हो गयी। इसलिये तुम्हें संशय करनेकी आवश्यकता नहीं है।'

आठवें अध्यायके ५वें श्लोकमें और दसवें अध्यायके ७वें श्लोकमें 'न संशयः' पद इसी भावमें भगवत्प्राप्तिविषयक संशय-निवृत्तिके लिये आया है।

चौथे आध्यायके ४२वें श्लोकमें 'संशयम्' पद अज्ञानके कारण होनेवाली ईश्वर, परलोक, आत्मा और जीव-विषयक शङ्काओंके लिये आया है।

चौथे अध्यायके ४०वें श्लोकमें 'संशयात्मा' और 'संशयात्मनः' पद एक ही अर्थमें, अर्थात् जिसको हरेक विषयमें संशय होता रहता है, जो अपने अविवेकके कारण ठीक समझ नहीं पाता और महापुरुषोंके निर्णयमें संशय करता रहता है—ऐसे पुरुषके लिये आये हैं। ऐसा संशय साधकके लिये साधनामें अति बाधक है।

छठे अध्यायके ३९वें श्लोकमें आये हुए 'संशयम्' और 'संशयस्य' पद 'सिद्धिको प्राप्त न हुए साधकका कभी पतन तो नहीं हो जाता'—इस बातको लेकर अर्जुनके मनमें जो संशय हुआ, उसी संशयकी ओर लक्ष्य कराते हैं।

सम्बन्ध

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि भगवान्में ही मन-बुद्धि लगाना रूप साधन प्रकृतिके उपयुक्त न हो तो क्या करना चाहिये, इसपर भगवान् आगे तीन श्लोकोंमें अपनी प्राप्तिके भिन्न-भिन्न तीन स्वतन्त्र साधन बतलाते हैं—

श्लोक

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोपि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

भावार्थ

अर्जुन ! यदि तू मन-बुद्धिको मुझमें एकाग्रतासे स्थिर कर लेनेमें अपनेको असमर्थ मानता है, तो भी तुझे ऐसी चिन्ता नहीं होनी चाहिये कि मन-बुद्धि स्थिर हुए बिना भगवत्प्राप्ति कैसे होगी ? मन-बुद्धिका अखण्डरूपसे मुझमें लगाना ही मेरी प्राप्तिका एकमात्र साधन हो, ऐसी बात नहीं है । किंतु मेरी प्राप्तिका उद्देश्य होनेपर नाम-जप, कीर्तन, लीला-चिन्तन, कथा-श्रवण, सत्-शास्त्र-अध्ययन आदि अभ्यासकी प्रत्येक क्रिया मेरी प्राप्ति अवश्य करा देगी । अतः अभ्यासयोगके द्वारा मेरी प्राप्तिकी इच्छा कर ।

अन्वय

अथ चित्तम् मयि स्थिरम् समाधातुम् न शक्नोषि ततः धनंजय अभ्यासयोगेन माम् आप्तुम् इच्छ ॥ ९ ॥

अथ=यदि

चित्तम्=मनको

यहाँ 'चित्तम्' पदका अर्थ केवल 'मन' होते हुए भी इस श्लोकका पूर्वश्लोकमें कथित साधनसे सम्बन्ध होनेके कारण इसके द्वारा 'मन-बुद्धि' दोनों लेना ही युक्तिसंगत है ।

मयि = मुझमें
स्थिरम्=अचलभावसे
समाधातुम् = स्थापित करनेके लिये
न शक्नोषि=तू समर्थ नहीं है
ततः=तो
धनंजय=हे अर्जुन !
अभ्यासयोगेन=अभ्यासयोगके द्वारा

'अभ्यास' और 'अभ्यासयोग' दो होते हैं। किसी भी क्रियाको बार-बार करनेका नाम 'अभ्यास' है। अभ्यासके साथ योगका संयोग होनेसे उसको 'अभ्यासयोग' कहा जाता है। 'योग'की परिभाषा गीतामें दो प्रकारसे दी हुई है—(१) दूसरे अध्यायके ४८वें श्लोकमें साधकके योगकी बात बतलायी गयी है। समताका उद्देश्य रखकर चलनेवाला साधक भी योगी है। 'समत्वं योग उच्यते'—'समभावमें अटल स्थितिका नाम योग है';—क्योंकि 'समता' परमात्माका स्वरूप ही है—'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' (गीता ५ । १९)। (२) छठे अध्यायके २३वें श्लोकमें सिद्धके योगकी बात बतलायी गयी है—'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्' दुःखरूप संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदका नाम योग है। अतः जिस क्रियाका उद्देश्य दुःखरूप संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद अथवा भगवत्प्राप्ति होगा, वह अभ्यासयोग होगा।

अभ्यासके साथ योगका संयोग न होनेसे ध्येय संसार होगा। संसार ध्येय होनेपर स्त्री-पुत्र, धन-मान, बड़ाई-कीर्ति, नीरोगता-अनुकूलता आदिकी इच्छा होगी।

जिन पुरुषोंका ध्येय संसार है अर्थात् स्त्री-पुत्र, धन-मान, बड़ाई-कीर्ति, नीरोगता-अनुकूलता आदि हैं—उनकी क्रियाओंके उद्देश्य भिन्न-भिन्न रहेंगे—कभी पुत्र, कभी धन, कभी मान-बड़ाई, कभी नीरोगता आदि। दूसरे अध्यायके ४१वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि 'ऐसे पुरुषोंकी बुद्धियाँ अनन्त और बहुत भेदोंवाली होती हैं।' इसलिये ऐसे पुरुषोंकी क्रियामें 'अभ्यासयोग' नहीं होगा। जब क्रियामात्रका उद्देश्य—ध्येय केवल परमात्मा ही होगा, तभी 'अभ्यासयोग' होगा।

साधक भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य रखकर बार-बार नाम-जपादिकी चेष्टा करता है, तब उसके मनमें अन्य संकल्प भी होते रहते हैं। अतः साधकको—'मेरा ध्येय भगवत्प्राप्ति ही है'—इस प्रकारकी दृढ़ धारणा करके अन्य संकल्पोंको त्याग देना चाहिये।

छठे अध्यायके २६वें श्लोकमें भगवान्ने अभ्यासपूर्वक मनको अपनेमें लगानेकी बात कही है। गीतामें अभ्यासके साधनकी रीति इसी श्लोकमें बतायी गयी है।

छठे अध्यायके ३५वें श्लोकके अन्तर्भूत 'अभ्यासेन' पद तथा इसी (बारहवें) अध्यायके १२वें श्लोकके अन्तर्गत 'अभ्यासात्' पद साधारण अभ्यासका वाचक है।

आठवें अध्यायके ८वें श्लोकमें प्रयुक्त 'अभ्यासयोगयुक्तेन' पद अभ्यासके द्वारा वशमें किये हुए चित्तका विशेषण है।

और इसी (बारहवें) अध्यायके १०वें श्लोकमें 'अभ्यासे' पद पूर्व प्रसङ्गसे सम्बन्धित होनेके कारण अभ्यासयोगका वाचक है।

माम् आप्तुम् इच्छ=मुझको प्राप्त करनेकी इच्छा कर।

इन पदोंसे भगवान् अभ्यासयोगको अपनी प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बतलाते हैं।

पूर्वश्लोकमें भगवान्ने अपनेमें ही मन-बुद्धि लगानेको कहा, यहाँ अभ्यासयोगके लिये कहते हैं। इससे यह धारणा हो सकती है कि 'अभ्यासयोग मन-बुद्धि मुझमें लगाने अर्थात् ध्यानका साधन है। अभ्यासके द्वारा मन-बुद्धि मुझमें लगनेपर ही मेरी प्राप्ति होगी।' किंतु ध्यानसे ही भगवत्प्राप्ति हो, ऐसा नियम नहीं है। भगवान् कहते हैं कि यदि अभ्यास करनेमें उद्देश्य पूरा-का-पूरा भगवत्प्राप्ति ही हो, अर्थात् उद्देश्यके साथ एकता हो तो उस अभ्यासयोगसे भगवत्प्राप्ति ही होगी।

जब साधक भगवत्प्राप्तिके लिये बार-बार भजन, ध्यान, जपादिका अभ्यास करता है, तब उससे उसके अन्तःकरणकी शुद्धि होने लगती है और भगवत्प्राप्तिकी इच्छा जाग्रत् हो जाती है। भगवत्प्राप्तिकी तीव्र इच्छा होनेपर भगवान्से मिलनेके लिये व्याकुलता उत्पन्न हो जायगी। वह व्याकुलता उसकी अवशिष्ट सांसारिक आसक्ति एवं अनन्त जन्मोंके पापोंको जला डालेगी। सांसारिक आसक्ति तथा पापोंका नाश होनेपर एकमात्र भगवान्में ही अनन्य प्रेम हो जायगा और वह भगवान्के वियोगको सहन नहीं कर सकेगा। जब भक्त भगवान्के बिना नहीं रह सकता, तब भगवान् भी भक्तके बिना कैसे रह सकते हैं (गीता ४। ११)। अर्थात् भगवान् भी उसके वियोगको नहीं सह सकेंगे। अतः ऐसी दशामें कृपावश भगवान् उसको मिल जायँगे।

साधकको भगवत्प्राप्तिमें विलम्ब प्रतीत हो रहा है, इसका कारण यही है कि वह भगवान्के वियोगको सह रहा है। यदि उसे भगवान्का वियोग असह्य हो जाय तो फिर भगवान्के मिलनेमें विलम्ब नहीं होगा। भगवान्की देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिसे दूरी है ही नहीं, भक्तकी उत्कण्ठाकी कमीके कारण विलम्ब हो रहा है। जहाँ साधक है, वहाँ भगवान् हैं ही। सांसारिक सुख-भोगके कारण ही भगवत्प्राप्तिके भविष्यमें होनेकी आशा लगा रखी है। व्याकुलता एवं तीव्र उत्कण्ठा होनेसे सुख-भोगकी

इच्छाका नाश हो जायगा और भगवत्प्राप्ति वर्तमानमें तत्काल ही हो जायगी।

श्लोक

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥ १०॥

भावार्थ

यदि तू उपर्युक्त अभ्यासयोगमें भी असमर्थ है अर्थात् नाम-जपादिद्वारा बार-बार प्रयत्न करनेपर भी मुझमें मनको लगानेमें असमर्थ है तो जो कुछ भी कर्म करे, वे सब-के-सब मेरे लिये ही कर, अर्थात् मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। मेरे लिये कर्म करनेके परायण होना भी मेरी प्राप्तिका एक स्वतन्त्र साधन है। देश, काल, परिस्थिति आदिके अनुसार जो कर्म तेरे सम्मुख उपस्थित हो, उस कर्मको मेरे लिये ही कर। इस प्रकार मेरे लिये कर्म करनेसे तुझे मेरी ही प्राप्ति होगी।

यदि साधकका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही है और सम्पूर्ण क्रियाएँ वह भगवान्के लिये ही कर रहा है तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि उसने अपनी सारी सामर्थ्य—योग्यता भगवत्प्राप्तिके लिये ही लगा दी। इसके सिवा वह और कर भी क्या सकता है? भगवान् उस साधकसे इससे अधिक अपेक्षा भी नहीं रखते, अतः उसे अपनी प्राप्ति करा देते हैं। इसका कारण यह है कि परमात्मा किसी साधनविशेषसे

खरीदे नहीं जा सकते। परमात्माके महत्त्वके सामने सम्पूर्ण संसारका महत्त्व भी कुछ नहीं है, फिर एक व्यक्ति तो उनका मूल्य चुका ही कैसे सकता है? अतः अपनी प्राप्तिके लिये भगवान् साधकसे इतनी ही अपेक्षा रखते हैं कि वह अपनी पूरी सामर्थ्य—योग्यताको लगा दे, अर्थात् कुछ भी बचाकर अपने पास न रखे।

अन्वय

अभ्यासे अपि असमर्थः असि मत्कर्मपरमः भव मदर्थम् कर्माणि कुर्वन् अपि सिद्धिम् अवाप्स्यसि ॥ १० ॥

अभ्यासे=ऊपर कहे हुए अभ्यासमें

इस पदका अभिप्राय यहाँ अभ्यासयोगसे है। गीताकी शैली है कि पहले कहे हुए विषयका आगे संक्षेपमें वर्णन करते हैं। आठवें श्लोकमें भगवान्‌ने परमात्मामें मन-बुद्धि लगानेरूप साधनको नवें श्लोकमें 'चित्तम् समाधातुम्' पदोंसे कहा अर्थात् 'चित्तम्' पदके अन्तर्गत मन-बुद्धि दोनोंका समावेश कर दिया। इसी प्रकार नवें श्लोकमें आये हुए अभ्यासयोगके लिये यहाँ यह 'अभ्यासे' पद आया है।

अपि=भी
असमर्थः=असमर्थ
असि=है
(तर्हि)=तो
मत्कर्मपरमः भव=केवल मेरे लिये कर्म करनेके परायण हो जा।

इसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण कर्मोंका उद्देश्य संसार न रहकर एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही हो। जो कर्म भगवत्प्राप्तिके लिये—भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये और भगवान्‌में प्रेम होनेके लिये भगवदाज्ञानुसार किये जाते हैं, उनकी संज्ञा 'मत्कर्म' है। जो साधक ऐसे कर्मोंके परायण हैं, वे 'मत्कर्मपरम' कहे जाते हैं। साधकका अपना सम्बन्ध भी भगवान्‌से हो और कर्मोंका सम्बन्ध भी भगवान्‌के साथ रहे, तब मत्कर्मपरायणता सिद्ध होगी।

भगवत्प्राप्तिमें दो तरहके साधन होते हैं—(१) निषेधरूप—जैसे चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, हिंसा आदि न करना और (२) विधिरूप—जैसे माता-पिता-गुरुजन आदिकी सेवा करना, संत-महात्माओंकी सेवा करना, भगवान्‌की सेवा-पूजा करना, सत्य-भाषण करना आदि। संसार ध्येय न रहनेसे निषिद्ध क्रियाएँ सर्वथा छूट जायँगी; क्योंकि निषिद्ध क्रियाएँ करानेमें संसारकी कामना ही हेतु है (गीता ३। ३७)। अतः भगवत्प्राप्तिका ही उद्देश्य रहनेसे साधककी सम्पूर्ण क्रियाएँ भगवदर्थ ही होंगी।

ग्यारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें 'मत्कर्मकृत्' पद इसी भावका द्योतक है। तीसरे अध्यायके ९वें श्लोकमें 'तदर्थं कर्म समाचर' पद इसी भावमें प्रयुक्त हुए हैं।

मदर्थम् कर्माणि कुर्वन् अपि=मेरे लिये कर्मोंको करता हुआ भी

भगवान्ने जिस साधनकी बात इसी श्लोकके पूर्वार्धमें 'मत्कर्मपरमः भव' से कही है, वही बात इन पदोंमें कही है।

सिद्धिम् अवाप्स्यसि=तू सिद्धिको प्राप्त होगा अर्थात् तुझे मेरी प्राप्ति होगी।

आठवें श्लोकमें 'ध्यानके साधनसे तू मुझमें ही निवास करेगा'—इस प्रकार ध्यानको अपनी प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बतलाया तथा नवें श्लोकमें 'अभ्यासयोगसे मुझे प्राप्त होनेकी इच्छा कर'—इस प्रकार अभ्यासयोगको अपनी प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बतलाया; इसी प्रकार यहाँ इन पदोंसे भगवान् 'मत्कर्मपरमः भव' (केवल मेरे लिये कर्म करनेके परायण हो)—इस साधनको अपनी प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बतला रहे हैं।

जैसे धन-प्राप्तिके लिये प्रयास करनेवाला मनुष्य खेती, दूकानदारी आदि कर्म करता है तो ज्यों-ही-ज्यों उसे धन प्राप्त होगा, त्यों-ही-त्यों उसके मनमें धनका लोभ बढ़ेगा एवं कर्म करनेका उत्साह बढ़ेगा, वैसे ही भगवदर्थ कर्म करनेवाला साधक भगवान्के लिये ही सम्पूर्ण कर्म करनेसे उसके मनमें भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठा एवं साधन करनेका उत्साह बढ़ेगा। उत्कण्ठा तीव्र होनेपर भगवान्का वियोग असह्य हो जायगा, तब सर्वत्र परिपूर्ण भगवान् उससे छिपे नहीं रह सकते। भगवान् अपनी कृपासे उसको अपनी प्राप्ति करा ही देंगे।

श्लोक

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

भावार्थ

भगवान् कहते हैं—'अर्जुन! यदि तू कर्मोंको मेरे केवल लिये करनेमें भी असमर्थ है तो तेरे लिये यह आवश्यक नहीं कि तू यही साधन करे । मेरी प्राप्तिका एक साधन तुझे और बतलाता हूँ । वह यह है कि तेरी क्रियाका उद्देश्य स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, नीरोगता, अनुकूलता आदि इस लोकके और स्वर्ग-सुखादि परलोकके किसी भी पदार्थकी प्राप्ति नहीं होना चाहिये । दूसरे शब्दोंमें तू कर्मजन्य फलका सर्वथा त्याग कर दे और उसकी इच्छा भी कभी मत कर । अवश्य ही मन, इन्द्रियों एवं शरीरपर पूरा अधिकार हुए बिना कर्मजन्य फलका सर्वथा त्याग कठिन होगा, इसलिये तू यतात्मवान् होकर सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्याग कर ।'

सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्याग भगवत्प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन है । कर्मफलत्यागसे विषयासक्तिका नाश होकर मनुष्यको शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है; उस शान्तिका उपभोग न करनेसे अर्थात् उसमें सुखबुद्धि करके न अटकनेसे वह शान्ति बोध कराकर परमात्माकी प्राप्ति करा देती है । (गीता ६ । ४; ४ । ३८) ।

ग्यारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें भगवान्‌ने साधक भक्तके पाँच लक्षणोंके अन्तर्गत एक लक्षण 'सङ्गवर्जितः' पदसे उसको आसक्तिसे सर्वथा रहित बतलाया है। यहाँ इस श्लोकमें कर्मफल त्यागसे भगवान् सम्पूर्ण कर्मोंके फलत्यागकी बात कहते हैं, जो संसारके प्रति आसक्तिके त्यागसे ही सम्भव है। इस (सर्वकर्मफलत्याग) का फल इसी अध्यायके १२वें श्लोकमें तत्काल परमशान्ति अर्थात् अपनी प्राप्ति बतलाया है। मानो भगवान् यहाँ यह बतलाते हैं कि 'मेरी भक्तिके एक लक्षणको पूरी तरह धारण करनेसे भी मेरी प्राप्ति हो जाती है।'

अन्वय

मद्योगमाश्रितः अथ एतत् अपि कर्तुम् अशक्तः असि ततः यतात्मवान् सर्वकर्मफलत्यागम् कुरु ॥ ११ ॥

अथ=यदि

मद्योगम् आश्रितः = (मेरे शरण होकर-) मेरे योगके आश्रित हुआ (तू)

दसवें श्लोकमें भगवान्‌ने अपने लिये सम्पूर्ण कर्म करनेसे भगवत्प्राप्ति बतलायी। यहाँ इस ग्यारहवें श्लोकमें वे सम्पूर्ण कर्मोंके फलत्यागरूप साधनकी बात कह रहे हैं—ये दोनों ही साधन कर्मयोगके अन्तर्गत हैं। भगवान्‌के लिये समस्त कर्म करनेमें भक्तिकी प्रधानता होनेसे वह 'भक्तिप्रधान कर्मयोग' है और सर्वकर्मफलत्यागमें केवल फलत्यागकी मुख्यता होनेसे वह

'कर्मप्रधान कर्मयोग' है। इस प्रकार भगवत्प्राप्तिके ये दोनों ही साधन पृथक्-पृथक् हैं।

'मद्योगमाश्रितः' पदका अन्वय 'अथैतदप्य शक्तोऽसि' के साथ करना ही उचित प्रतीत होता है; क्योंकि यदि इसका सम्बन्ध 'सर्वकर्मफलत्यागम् कुरु' के साथ किया जाता है तो यहाँ भी भगवान्‌के आश्रयकी मुख्यता हो जानेसे यह भी भक्तिप्रधान कर्मयोग ही हो जायगा। ऐसी दशामें दसवें श्लोकमें कहे हुए भक्तिप्रधान कर्मयोगके साधनसे इसकी भिन्नता नहीं रहेगी, जब कि भगवान् दसवें और ग्यारहवें श्लोकोंमें क्रमशः भक्तिप्रधान कर्मयोग और कर्मप्रधान कर्मयोग—दो भिन्न-भिन्न साधन बतलाना चाहते हैं।

दूसरी बात यह भी है कि भगवान्‌ने यहाँ ग्यारहवें श्लोकमें 'यतात्मवान्' (मन, बुद्धि, इन्द्रियोंके सहित शरीरपर विजय प्राप्त करनेवाला) पद भी दिया है, जिससे कर्मप्रधान कर्मयोगके साधनमें आत्मसंयमकी विशेष आवश्यकता दिखलायी है। कर्मप्रधान कर्मयोगमें ही आत्मसंयमकी विशेष आवश्यकता है; क्योंकि आत्मसंयमके बिना सर्वकर्मफलत्याग होना असम्भव है। इसलिये भी 'मद्योगमाश्रितः' पदका सम्बन्ध 'अथैतदप्यशक्तोऽसि' के साथ लेना चाहिये, न कि सर्वकर्मफलत्याग करनेकी आज्ञाके साथ।

एतत्=इसको
अपि=भी

कर्तुम् = करनेमें

अशक्तः = असमर्थ

असि = है

ततः = तो

यतात्मवान् = जीते हुए मनवाला अर्थात् मन-बुद्धि-इन्द्रियों के सहित शरीरको वशमें रखनेवाला होकर

कर्मप्रधान कर्मयोगीके साधनमें कर्मोंका विस्तार स्वाभाविक ही हो जाता है (गीता ६ । ३)। कर्मोंके विस्तारसे उनमें फँसावट होकर बन्धन हो जानेका डर रहता है। अतएव इस पदसे भगवान्ने कर्मफलत्यागके साधनमें मन-इन्द्रियों आदिके संयमकी परम आवश्यकता दिखलायी है; एवं मन-इन्द्रियोंका संयम होनेपर फलत्याग भी सुगमतासे हो सकता है। यदि ऐसे साधकके मन-बुद्धि-इन्द्रियों आदिका संयम नहीं होगा तो स्वाभाविक ही विषयोंमें आसक्ति होनेके कारण विषयोंका चिन्तन होगा, जिससे उसके पतनकी बहुत सम्भावना है (गीता २ । ६२-६३)।

त्यागका उद्देश्य होनेसे साधकके मन-इन्द्रियोंका संयम सुगमतासे हो सकता है।

पाँचवें अध्यायके २५वें श्लोकमें—'यतात्मानः' पद तथा २६वें श्लोकमें 'यतचेतसाम्' पद, छठे अध्यायके ७वें श्लोकमें 'जितात्मनः' पद और इसी (बारहवें) अध्यायके १४वें श्लोकमें

'यतात्मा' पद मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके सहित शरीरको वशमें किये हुए सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें आये हैं। सिद्ध भक्तोंके मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ आदि स्वाभाविक ही वशमें रहते हैं।

चौथे अध्यायके २१वें श्लोकमें 'यतचित्तात्मा' पद और अठारहवें अध्यायके ४९वें श्लोकमें 'जितात्मा' पद मन-बुद्धि-इन्द्रियों आदिको वशमें रखनेवाले साधकोंके लिये आया है।

तेरहवें अध्यायके ७वें श्लोकमें 'आत्मविनिग्रहः' पद भी इसी अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

सर्वकर्मफलत्यागम् कुरु=सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्याग कर।

यज्ञ, दान, तप, सेवा और वर्णाश्रमके अनुसार जीविका तथा शरीर-निर्वाहके लिये किये जानेवाले शास्त्रविहित सम्पूर्ण कर्मोंका वाचक यहाँ 'सर्वकर्म' शब्द है। सर्वकर्मफलत्यागका अभिप्राय स्वरूपसे कर्मफलका त्याग न होकर कर्मफलमें ममता, आसक्ति, कामना, वासना आदिका त्याग ही है।

कर्मफलको चार भागोंमें विभक्त किया जाता है—

(१) प्राप्त कर्मफल—प्रारब्धके फलस्वरूप जैसा शरीर, जो कुछ वस्तुएँ, प्राणी, धन-सम्पत्ति, जाति, वर्ण और अधिकार आदि प्राप्त हैं—ये सभी 'प्राप्त कर्मफल'के अन्तर्गत हैं।

दूसरे अध्यायके ४७वें श्लोकमें 'मा फलेषु कदाचन' पदोंसे, पाँचवें अध्यायके १२वें श्लोकमें 'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा' पदोंसे, छठे अध्यायके १ले श्लोकमें 'अनाश्रितः कर्मफलं' पदोंसे, इसी (बारहवें) अध्यायके १२वें श्लोकमें 'कर्मफलत्यागः' पदसे, अठारहवें अध्यायके ६ठे श्लोकमें 'सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च' पदोंसे, ९वें श्लोकमें 'सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव' पदोंसे, ११वें श्लोकमें 'कर्मफलत्यागी' पदसे, १२वें श्लोकमें 'त्रिविधं कर्मणः फलम् भवति अत्यागिनाम्' पदोंसे और २३वें श्लोकमें 'अफलप्रेप्सुना' पदसे इसी भावमें कर्मोंके फलका त्याग करनेकी बात कही गयी है। इस फलत्यागके अन्तर्गत कर्मोंमें और फलमें ममता और आसक्तिका त्याग भी आ गया है।

भगवान् जहाँ भी 'कर्मफलत्याग' शब्द देते हैं, वहाँ कर्मोंमें और उनके फलमें ममता-आसक्तिका सर्वथा अभाव बतलाते हैं; वे जहाँ कर्मफलत्यागकी बात कहते हैं, वहाँ वे साथ-साथ आसक्तिके त्यागकी बात भी कहते हैं (गीता १८। ६); जहाँ केवल फलत्यागकी बात कहते हैं, वहाँ आसक्तिके त्यागका अध्याहार कर लेना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌के मतमें आसक्ति और फलेच्छाका त्याग पूर्णतया होनेसे ही कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होता है। अठारहवें अध्यायके २रे श्लोकमें 'सर्वकर्मफलत्यागम्' पद विद्वानोंके मतमें केवल कर्मफलकी इच्छाके त्यागके लिये आया है। कर्मोंमें ममता-

आसक्तिके त्यागकी बात इसके अन्तर्गत नहीं आयी है। इसलिये यहाँ इस 'सर्वकर्मफलत्यागम्' पदमें वैसे पूर्ण कर्मफलत्यागका संकेत नहीं है, जैसे पूर्ण कर्मफलत्यागकी बात 'सर्वकर्मफलत्यागम्' पदसे भगवान्ने यहाँ कही है।

सम्बन्ध

भगवान्ने ८वें श्लोकसे ११वें श्लोकतक एक साधनमें असमर्थ होनेपर दूसरा, दूसरे साधनमें असमर्थ होनेपर तीसरा और तीसरे साधनमें असमर्थ होनेपर चौथा साधन बतलाया; इसमें ऐसी शङ्का होती है कि अन्तमें बतलाया हुआ 'सर्वकर्मफलत्याग' साधन कदाचित् सबसे निम्नश्रेणीका है। इस शङ्काको दूर करनेके लिये भगवान् उक्त (सर्वकर्मफलत्याग) साधनका शान्ति-प्राप्तिरूप फल बतलाते हैं—

श्लोक

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

भावार्थ

पूर्वश्लोकोंमें ८वेंसे ११वेंतक अधिकारि-भेदसे भगवान्ने चार साधन बतलाये। जिस साधककी प्रकृतिके अनुकूल जो साधन है, उसके लिये वही कल्याण करनेवाला है। किंतु पूर्वोक्त साधनोंकी ओर दृष्टि दी जाय और उनके एक-एक

मुख्य अंशको लेकर भी उनके तारतम्यपर विचार किया जाय तो फलका त्याग ही सबसे ऊँचा सिद्ध होता है।

जिस अभ्यासमें ज्ञान नहीं है, ध्यान नहीं है, कर्मफलत्याग नहीं है और जिस ज्ञानमें अभ्यास नहीं है, ध्यान नहीं है, कर्मफलत्याग नहीं है—इन दोनोंमें अभ्यासकी अपेक्षा केवल ज्ञान श्रेष्ठ है। इसी प्रकार जिस ज्ञानमें अभ्यास नहीं है, ध्यान नहीं है और कर्मफलका त्याग भी नहीं है और जिस ध्यानमें ज्ञान नहीं है और कर्मफलत्याग भी नहीं है—उन दोनोंमें केवल ध्यान श्रेष्ठ है। पुनः जिस ध्यानमें ज्ञान नहीं है, फलका त्याग भी नहीं है और जिस कर्मफलत्यागमें ज्ञान नहीं है, ध्यान भी नहीं है—उन दोनोंमें कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि कर्मफलत्यागसे परमशान्ति अर्थात् भगवत्प्राप्ति हो जायगी। कारण यह है कि संसारके साथ विशेष सम्बन्ध आसक्ति और फलेच्छाको लेकर ही है—

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

(गीता १३ । २१)

फलका त्याग आसक्तिके त्यागसे ही सम्भव है, अतः फलत्यागसे संसारके प्रति आसक्तिका नाश होनेपर साधकको अन्तःकरणकी स्वच्छता, प्रसन्नता एवं शान्ति प्राप्त हो जाती है (गीता २ । ६४)। शान्तिकी स्थितिमें आसक्तिके त्यागका प्रवाह चालू रहने अर्थात् शान्तिका उपभोग न करनेके कारण सूक्ष्म

अहं भी विलीन हो जाता है, तत्त्वज्ञान स्वतः हो जाता है। फिर जन्म-मरणका कोई कारण ही नहीं रहता और मनुष्य परम-शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

विशेष ध्यान देनेकी बात

८वें श्लोकसे ११वें श्लोकतक भगवान्‌ने चार साधन बतलाये— १. ध्यानयोग, २. अभ्यासयोग, ३. भगवान्‌के लिये ही सम्पूर्ण कर्मोंका अनुष्ठान और ४. सर्वकर्मफलत्याग। इन चारों साधनोंका फल भगवत्प्राप्ति ही है, किंतु साधकोंकी भिन्न-भिन्न रुचि और योग्यताके कारण ही इन भिन्न-भिन्न साधनोंका वर्णन है।

अपने साधनको छोटा मानकर साधकको भगवत्प्राप्तिके विषयमें कभी निराश नहीं होना चाहिये; क्योंकि साधन छोटा होता ही नहीं। यदि साधकका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति हो, साधन अपनी रुचिके अनुसार हो और साधनको अपनी पूरी सामर्थ्य लगाकर, पूरी तत्परतासे किया जाय, उत्कण्ठा तीव्र हो तो सभी साधन एक समान हैं। अपने उद्देश्य, सामर्थ्य, चेष्टा एवं तत्परतामें कभी न्यूनता नहीं आनी चाहिये। भगवान् साधकसे इतनी ही अपेक्षा रखते हैं कि वह अपनी पूरी शक्ति एवं योग्यताको साधनमें लगा दे। साधक तो परमात्मतत्त्वको ठीक-ठीक नहीं जानते; किंतु परमात्मा तो उनके उद्देश्य, भाव, तत्परता आदिको जानते ही हैं। यदि साधक अपने उद्देश्य,

भाव, योग्यता, तत्परता, उत्कण्ठा आदिमें किसी प्रकारकी कमी नहीं रक्खेंगे तो भगवान् कृपा करके अपनी प्राप्ति करा देंगे। वास्तवमें अपने उद्योग, बल और ज्ञान आदिसे तत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती; भगवान्‌की दी हुई सामर्थ्यको भगवान्‌के लिये ही उपयोगमें लानेसे भगवान् अपनी कृपासे अपनी प्राप्ति करा देते हैं।

संसारमें सबसे सुगम भगवत्प्राप्ति ही है और इसके सभी अधिकारी हैं। कर्म भिन्न-भिन्न होनेके कारण संसारके पदार्थ किन्हीं दोको भी एक समान नहीं मिल सकते, जब कि परमात्मा एक होनेसे भगवत्प्राप्ति सबको एक ही होती है। जीवात्मा भगवान्‌का अंश है और अंश अंशीको ही प्राप्त होता है।

अन्वय

हि अभ्यासात् ज्ञानम् श्रेयः ज्ञानात् ध्यानम् विशिष्यते ध्यानात् कर्मफलत्यागः त्यागात् अनन्तरम् शान्तिः ॥ १२ ॥

हि=क्योंकि

अभ्यासात्=अभ्याससे

श्रीपतञ्जलिजी कहते हैं—

'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।'

(योगदर्शन १। १३)

"किसी विषयमें स्थिति उपलब्ध करनेके लिये बार-बार प्रयत्न करनेका नाम 'अभ्यास' है।" यहाँ 'अभ्यास' शब्द अभ्यासमात्रका वाचक है, जिस अभ्यासमें शास्त्रज्ञान और ध्यान

नहीं है तथा फलेच्छाका त्याग भी नहीं है, वह अभ्यासयोगका वाचक नहीं है।

ज्ञानम्=शास्त्रज्ञान

सत्सङ्गमें सुननेसे और शास्त्रोंको पढ़नेसे जो आध्यात्मिक जानकारी हुई है; परंतु जिस जानकारीके अनुसार अभीतक अनुभव नहीं हुआ है तथा जिस जानकारीमें अभ्यास, ध्यान और [illegible] ही नहीं हैं, ऐसी शास्त्रोंकी जानकारीके लिये यहाँ 'ज्ञानम्' पद आया है।

चौथे अध्यायके ३४वें श्लोकमें तथा ३९वें श्लोकमें दो बार, पाँचवें अध्यायके १५वें श्लोकमें तथा १६वें श्लोकमें 'ज्ञानेन' एवं 'ज्ञानम्', तेरहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें दो बार, चौदहवें अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें 'ज्ञानम्' पद तत्त्वज्ञानका वाचक है।

सातवें अध्यायके दूसरे और नवें अध्यायके पहले श्लोकमें प्रयुक्त 'ज्ञानम्' पद भगवान्‌के निर्गुण-निराकार-तत्त्वके प्रभाव, माहात्म्य और रहस्यसहित यथार्थ ज्ञानका बोधक है और 'विज्ञान' शब्द सगुण-निराकार तथा दिव्य साकार-तत्त्वके लीला, रहस्य, गुण, महत्त्व, प्रभावसहित यथार्थ ज्ञानका वाचक है।

दसवें अध्यायके ४थे श्लोकमें 'ज्ञानम्' पद साधारण ज्ञानसे लेकर तत्त्वज्ञानतकका वाचक है।

तेरहवें अध्यायके ११वें और १८वें श्लोकोंमें ' पद साधनरूप ज्ञानका वाचक है।

तेरहवें अध्यायके १७वें श्लोकमें 'ज्ञानम्' पद श परमात्माके लिये आया है।

तीसरे अध्यायके ३९वें-४०वें श्लोकोंमें, चौदहवें अध्य ९वें, ११वें और १७वें श्लोकोंमें तथा पंद्रहवें अध्यायके श्लोकमें 'ज्ञानम्' पद विवेक-ज्ञानके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

दसवें अध्यायके ३८वें श्लोकमें, अठारहवें अध्यायके १८ और १९वें श्लोकोंमें 'ज्ञानम्' पद साधारण ज्ञानका वाचक तथा २०वें श्लोकमें 'ज्ञानम्' पद सात्त्विक ज्ञानका वाचक है २१वें श्लोकमें दो बार आया हुआ 'ज्ञानम्' पद लौकिक ज्ञान वाचक है तथा ४२वें श्लोकमें 'ज्ञानम्' पद शास्त्रज्ञानका वाचक है।

अठारहवें अध्यायके ६३वें श्लोकमें 'ज्ञानम्' पद उपदेशके लिये आया है।

श्रेयः=श्रेष्ठ है (और)
ज्ञानात्=शास्त्रज्ञानसे
ध्यानम्=ध्यान

किसी विषयमें मन-बुद्धिके लगनेका नाम 'ध्यान' है। जिस ध्यानमें ज्ञान और कर्मफलत्याग नहीं है, उस ध्यानके लिये यहाँ यह पद आया है।

तेरहवें अध्यायके २४वें श्लोकमें 'ध्यानेन' पद साधनरूप यानका वाचक है। दूसरे अध्यायके ६२वें श्लोकमें 'ध्यायतः' पद चिन्तनके अर्थमें आया है। इसी (बारहवें) अध्यायके ६ठे लोकमें 'ध्यायन्तः' पद अनन्य चिन्तनके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। अटारहवें अध्यायके ५२वें श्लोकमें 'ध्यानयोगपरः' पद निर्गुण-त्त्वके ध्यानपरायण पुरुषके लिये आया है।

विशिष्यते=श्रेष्ठ है (तथा)
ध्यानात्=ध्यानसे (भी)
कर्मफलत्यागः=सब कर्मोंके फलका त्याग

कर्मफलत्यागमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग न होकर कर्मोंमें और कर्मफलमें ममता-आसक्ति एवं कामना-वासनाके त्यागकी बात है। उसीको 'जडसे सम्बन्ध-विच्छेद' कहते हैं।

(विशिष्यते)=श्रेष्ठ है (और)
त्यागात्=त्यागसे

यहाँ यह पद कर्मफलत्यागके लिये ही आया है। त्यागके विषयमें एक विशेष बात समझनेकी यह है कि त्याग उसी वस्तुका होता है, जो वास्तवमें स्वरूपसे अपनी है नहीं, परंतु भूलसे अपनी मानकर जिसके साथ हम इतने घुल-मिल गये हैं कि उसे ही अपना स्वरूप मान बैठे हैं या जिसे हमने अपनी मान ली है। जो वस्तु स्वरूपसे अपनी है, उसका त्याग हो

ही नहीं सकता; जैसे सूर्य प्रकाश और गर्मीका त्याग न
कर सकता। इसीलिये यह पद यहाँ कर्मों और उन
फलके साथ भूलसे जोड़े हुए सम्बन्धको त्यागनेके अर्थमें
आया है।

अनन्तरम्=तत्काल ही
शान्तिः=परमशान्ति प्राप्त हो जाती है।

इस पदका तात्पर्य परमशान्तिसे है, उसीको 'भगवत्प्राप्ति'
कहते हैं।

दूसरे अध्यायके ७०वें तथा ७१वें श्लोकोंमें,
अध्यायके ३९वें श्लोकमें, पाँचवें अध्यायके १२वें तथा २९
श्लोकोंमें, छठे अध्यायके १५वें श्लोकमें, नवें अध्यायके ३१
श्लोकमें और अठारहवें अध्यायके ६२वें श्लोकमें 'शान्ति'
पद परमशान्तिका ही वाचक है।

दूसरे अध्यायके ६६वें श्लोकमें और सोलहवें अध्यायके
दूसरे श्लोकमें 'शान्तिः' पद तथा अठारहवें अध्यायके ५३वें
श्लोकमें 'शान्तः' पद अन्तः करणकी शान्तिके लिये
आया है।

तुलना

आठवें श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक भगवान्ने चार स्वतन्त्र
साधन बतलाये हैं। इन चारों साधनोंका फल एक भगवत्प्राप्ति

ै है। इसलिये यदि इनके तारतम्यपर विचार किया जाय तो न चारों साधनोंमेंसे मुख्य एक-एक अंशको लेकर ही उनकी लना की जा सकती है। अतः भगवान् यहाँ चारों साधनोंके ख्य एक-एक अंशको लेकर तुलना कर रहे हैं।

ज्ञान और अभ्यासकी तुलनामें ज्ञानका अर्थ शास्त्रज्ञान है, विवेक अथवा तत्त्वज्ञान नहीं। (सत्-असत्, आत्मा-अनात्मा, त्य-अनित्य, शुचि-अशुचि और सुख-दुःखको यथार्थ जाननेका म 'विवेक' है।) जिस ज्ञान और अभ्यासकी तुलना की जा ही है, उस ज्ञानमें न अभ्यास है, न ध्यान है और न फल-ग ही है और अभ्यास भी केवल ऐसे अभ्यासका वाचक , जिसमें न ज्ञान है, न ध्यान है और न फलत्याग है।

ध्यान और ज्ञानकी तुलनामें ध्यान उस ध्यानका चक है, जिसमें ज्ञान और कर्मफलत्याग नहीं है और ज्ञान वल शास्त्रज्ञानका वाचक है, जिसमें न ध्यान है, न अभ्यास और न फलत्याग ही है।

ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है। ध्यानसे मनकी चञ्चलताका नाश गा, जब कि केवल शास्त्रज्ञानसे यह नहीं होगा। ध्यान नेवालेको मनकी एकाग्रताके कारण ज्ञानकी प्राप्ति बहुत गमतासे हो सकती है, जब कि शास्त्रज्ञानवालेको मनकी चञ्चलताके कारण ध्यान लगानेमें बहुत परिश्रम पड़ेगा।

कर्मफलत्याग और ध्यानकी तुलनामें ऊपर कहा जा
है कि कर्मफलत्यागमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग अभिप्रेत नहं
अपितु कर्मोंमें और उनके फलमें जो ममता, आसक्ति, का
वासना आदि हैं, उन्हींका त्याग कर्मफलका त्याग है
ध्यान उस ध्यानका वाचक है, जिसमें न ज्ञान है औ
कर्मफलत्याग है।

ध्यानसे कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है। जिस त्यागमें 'जड़
सम्बन्ध ही बन्धनका कारण है'— ऐसी जानकारी है तथा 'प्रा
अप्राप्त, दृष्ट-अदृष्ट किसी प्रकारका भी कर्मफलका भाव न
जाय'—ऐसी सतत सावधानी है और त्यागविषयक क्रि
जिसमें स्वतः हो ही रही है, उस त्यागसे यहाँ ध्यान
तुलना की जा रही है। संसारमें आसक्ति न रहनेसे कर्मफ
त्यागीका जडके साथ सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। संसारमें जो
राग है, वही जीवात्माका बन्धन है। संसारके साथ सम्ब
रहनेसे हो मनुष्यको ऊँच-नीच योनियोंमें भटकना पड़ता है
(गीता १३ । २१)। कर्मफलत्यागीका जडके साथ सर्व
सम्बन्ध-विच्छेद होनेके कारण उसकी स्वतः ही परमात्मामें स्थि
है; इसलिये उसे ध्यानकी आवश्यकता नहीं है। यदि वह ध्या
लगाना चाहे तो सांसारिक कामना न होनेके कारण उसे ध्या
लगानेमें कोई कठिनाई नहीं है, जब कि ध्यान करनेवालेको सकाम
भाव अर्थात् कर्मफल त्यागनेमें कठिनाई होगी और बिना सकाम
भाव छूटे भगवत्प्राप्ति होनेमें कठिनाई होगी।

दसवें श्लोकमें भगवान्‌के लिये समस्त कर्म करना भगवत्-
ाप्तिका साधन बतलाया गया है। उक्त साधनमें भी फलका
ाग है, यद्यपि है भगवान्‌के लिये और सर्वकर्मफलत्यागमें तो
लका त्याग है ही; इसलिये दोनों साधनोंमें कर्मफलके साथ
म्बन्ध न रहनेके कारण ध्यानके साथ उनकी अलग-अलग
लना न करके भगवान्‌ने यहाँ इस श्लोकमें 'कर्मफलत्याग' पदसे
नोंकी एक साथ ही तुलना की है।

भगवान्‌ने आठवें श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक एक-एक
धनमें असमर्थ होनेपर क्रमशः ध्यानयोग, अभ्यासयोग,
ावदर्थ कर्म और कर्मफलत्याग—ये चार साधन बतलाये।
ससे आपाततः यह जान पड़ता है कि क्रमशः एकसे दूसरा
धन निम्न श्रेणीका है, सुतरां कर्मफलत्यागका साधन सबसे
म्न श्रेणीका है।

पहले तीन साधनोंमें भगवत्प्राप्तिरूप फलकी बात भी साथ-
थ कही गयी; परंतु ग्यारहवें श्लोकमें, जहाँ कर्मफलत्याग
रनेकी आज्ञा दी गयी है, वहाँ उसका फल भगवत्प्राप्ति नहीं
लाया गया। इससे भी उपर्युक्त धारणाकी पुष्टि होती है कि
: कर्मफलत्यागरूप साधन निम्न श्रेणीका है।

ध्यानयोग, अभ्यासयोग, भगवदर्थ कर्म और कर्मफलत्यागके
धनोंको क्रमशः बतानेका तात्पर्य यह है कि साधककी
ासारिक क्रिया जितनी कम होती है, वह उतना ही अधिक

परमात्मामें लीन माना जाता है । ध्यानयोगमें क्रिया है ही नहीं
अभ्यासयोगमें थोड़ी क्रिया है; परंतु भगवदर्थ कर्म औ
कर्मफलत्यागमें तो क्रिया ही है । इसलिये ऐसा क्रम दिया ग
है । लौकिक दृष्टिसे ध्यानयोगमें भगवान्‌के साथ सबसे अधि
सम्बन्ध है, अभ्यासयोगमें उससे कम, भगवदर्थ कर्ममें उससे
कम और कर्मफलत्यागमें सबसे कम । इस दृष्टिसे भी कर्मफलत्या
का साधन निम्न श्रेणीका दीखता है ।

किंतु भगवान्‌ने कर्मफलत्यागको श्रेष्ठ और उससे तत्का
परमशान्ति होना बतलाकर यह स्पष्ट कर दिया कि इस चौथे
साधनको कोई निम्न श्रेणीका न समझ ले; क्योंकि साधनमें
त्यागकी ही प्रधानता है, न कि क्रियाकी ।

इस प्रकार अभ्यास, ज्ञान, ध्यान—इन सबसे कर्मफलत्याग
श्रेष्ठ है। अभ्यास, ज्ञान, ध्यान—इन तीनोंमें भी फलत्याग करनेसे
ही मुक्ति होगी। जबतक साधकमें किसी फलकी कामना है, तबतक
वह मुक्त नहीं हो सकता—'फले सक्तो निबध्यते ॥' (गीता ५।१२)
कर्मफलत्यागीमें ममता, आसक्ति, कामना, वासनाका सर्वथा अभाव
होनेके कारण जडसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होकर तत्काल
परमशान्तिकी प्राप्ति होती है—'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा
शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।' (गीता ५ । १२)

इस साधकको अलगसे अभ्यास, ज्ञान, ध्यान ...
आवश्यकता नहीं है । अभ्यास, ज्ञान, ध्यान—इन तीनोंमें ही

सकामभाव न छूटनेसे जडका आश्रय बना हुआ है; जब कि कर्मफलत्यागमें जडका आश्रय नहीं है, बल्कि उससे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद है।

श्रुतिमें भी कामनाओंके त्यागकी ही महिमा कही गयी है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
(कठ० उ० ६।१४)

'ये सारी कामनाएँ साधक पुरुषके हृदयसे जब समूल नष्ट हो जाती हैं, तब वह, जो सदासे मरणधर्मा था, अमर हो जाता है। उसे यहीं—इस मनुष्य-शरीरमें ही परब्रह्म परमेश्वरका भलीभाँति साक्षात् अनुभव हो जाता है।'

त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः। (कैवल्य उप० ३)

'कई साधक त्यागके द्वारा ही अमृतत्वको प्राप्त हुए हैं।'

भगवान्‌ने यहाँ जो चार साधन बतलाये हैं, विचार करके देखा जाय तो उनमेंसे प्रत्येकमें चारों ही बातें हैं। जैसे (१) भगवान्‌में मन-बुद्धिका लगना रूप ध्यान तो है ही, अभ्यास भी पहलेका किया हुआ है, नहीं तो ध्यान होता ही कैसे। ध्यान भगवान्‌का होनेसे भगवदर्थ है ही

एवं ध्यानका फल कोई लौकिक कामना नहीं है। (२) अभ्यास-योगमें—जितने अंशमें साधकका मन लगा रहता है, उतने अंशमें उसे ध्यान हो ही रहा है तथा अभ्यास वह करता ही है; अभ्यास यदि वह भगवान्‌के लिये करता है तो वह भगवदर्थ है ही एवं नाशवान् फलकी कामना है ही नहीं। (३) भगवदर्थ कर्म करनेमें—ध्येय है परमात्माकी प्राप्ति; मन लगता है, इस रूपमें ध्यान हो ही रहा है; कर्म करना अभ्यास है; भगवत्प्रीत्यर्थ तो वह करता ही है एवं नाशवान् पदार्थोंकी कामना उसमें है नहीं। और (४) भगवदर्थ कर्म करनेमें भी फलका त्याग है; यद्यपि है वह भगवान्‌के लिये और सर्वकर्मफलत्यागमें भी फलका त्याग है—अतः वे ही चारों बातें इसमें हैं।

जब चारों ही साधनोंमें चारों बातें हैं, तब फिर साधनोंमें श्रेणी कैसी? अर्थात् साधन कोई छोटा नहीं है।

वास्तवमें साधकको सबसे पहले अपने लक्ष्य, ध्येय अथवा उद्देश्यको ठीक करना चाहिये। इसके बाद उसका मुख्यतया सम्बन्ध किसके साथ है, यह पहचानना चाहिये। फिर साधन कोई-सा भी करे—चाहे ध्यान करे, अभ्यासयोग करे, भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करे या कर्मफलत्याग करे, वही साधन उसके लिये श्रेष्ठ हो जायगा; क्योंकि जब उसका लक्ष्य स्थिर हो जायगा कि उसे परमात्माको ही प्राप्त करना है एवं वह यह भी पहचान लेगा कि अनादिकालसे उसका परमात्माके साथ सम्बन्ध है, तब फिर

कोई-सा भी साधन उसके लिये छोटा नहीं रह जायगा। साधन छोटा-बड़ा तो लौकिक दृष्टिसे है। साधनकी कमी वास्तवमें कमी नहीं है, उद्देश्यमें कमी ही कमी है। अतः साधकको चाहिये कि उद्देश्यमें किंचित् भी कमी न आने दे। उद्देश्य पूर्ण होनेपर साधनकी सिद्धि स्वतः हो जायगी।

साधन-विशेषके करनेमें असमर्थताकी बात इसलिये कही गयी है कि ध्यान, अभ्यासयोग, भगवदर्थ कर्म एवं कर्मफलत्याग—इनमेंसे कोई भी साधन सभी साधकोंके लिये सुगम अथवा उपयोगी हो, ऐसी बात नहीं है। जो साधन एकके लिये सुगम है, वही दूसरेके लिये कठिन हो सकता है। अतः जिसकी जैसी योग्यता हो, उसके अनुसार ही साधन करना उसके लिये सर्वोत्तम होगा। वैसे चारों ही साधन स्वतन्त्र और उत्तम हैं। इसलिये जो कोई भी साधन हम करें, उसे श्रेष्ठ मानना चाहिये।

मार्मिक बात

परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें संसारसे वैराग्य और परमात्माकी प्राप्तिकी उत्कण्ठा—ये दो बातें ही मुख्य हैं। साधन कोई-सा भी हो, जब सांसारिक भोगोंका त्याग हृदयसे होगा और भोग दुःखदायी प्रतीत होने लगेंगे—वर्तमान स्थिति असह्य हो जायगी, तब परमात्माकी ओर प्रगति स्वतः ही होगी और परमात्माकी कृपासे परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी।

इसी तरह परमात्मा जब प्रिय लगने लगेंगे, उनके बिना रहा नहीं जायगा, उनके वियोगमें बेचैनी पैदा हो जायगी तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी।

संसारसे वैराग्य अथवा भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठा—इन दोनोंमेंसे कोई एक साधन भी तीव्र होनेपर भगवत्प्राप्ति करा देगा।

ऊपर जो चार साधन बतलाये गये हैं—इनमें तीन साधन केवल परमात्माको प्राप्त करनेकी उत्कण्ठा जगानेके लिये हैं और चौथा साधन संसारसे वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये।

इसका कारण यह है कि परमात्म-तत्त्व सदा सबको नित्य-प्राप्त होनेपर भी सांसारिक पदार्थोंके संग्रह और उनसे होनेवाले सुखभोगमें जो ममता, आसक्ति आदि हैं, वही परमात्माकी प्राप्तिमें मुख्य बाधा है। यह बाधा हट जानेपर प्राप्तिमें देर नहीं होगी।

साधनोंके भेद तो साधककी योग्यता एवं रुचिके अनुसार होते हैं। वास्तवमें कोई भी साधन छोटा नहीं है। साधककी रुचि एवं योग्यताके अनुसार किया जानेवाला साधन ही उत्तम होता है। रुचि, विश्वास, सामर्थ्य, योग्यता, परिस्थिति, सङ्ग, स्वाध्याय आदि सबके मिलनेसे साधन सहज होता है। जैसे भूख सबको एक-सी होती है और भोजन करनेपर तृप्ति भी

सबको एक-समान होती है; पर भोजनकी रुचि अलग-अलग होती है, भोजनके पदार्थ भी प्रकृति और रुचिके कारण भिन्न-भिन्न होते हैं, इसी प्रकार साधकोंकी रुचि, विश्वास, प्रकृतिके अनुसार साधन अलग-अलग होते हैं, जब कि परमात्मासे विमुख और संसारके सम्मुख होनेपर दुःख-संताप-जलनके कारण भगवत्प्राप्तिकी इच्छा (भूख) एक-सी होती है और किसी तरहका भी साधक क्यों न हो, पूर्णता होनेपर भगवत्प्राप्ति-रूप आनन्दकी प्राप्ति (तृप्ति) भी एक-सी ही होती है।

सम्बन्ध

निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी और सगुण-साकार भगवान्‌की उपासना करनेवाले उपासकोंमें सगुण-उपासकोंको श्रेष्ठ बतलाकर अर्जुनको सगुण-उपासना करनेको आज्ञा दी गयी। इस सगुण-उपासनाके अन्तर्गत भगवान्‌ने आठवें श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक अपनी प्राप्तिके चार साधन बतलाये। चारों साधनोंसे ही सिद्धावस्थाको प्राप्त हुए अपने प्रिय भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन तेरहवें श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक सात श्लोकोंद्वारा पाँच प्रकरणोंमें करते हैं। तेरहवें और चौदहवें श्लोकोंका पहला प्रकरण है, जिसमें सिद्ध भक्तके बारह लक्षणोंका वर्णन है—

श्लोक

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

भावार्थ

भक्तिमार्गमें मूल बात यह है कि अहंताके बदलनेसे ही अर्थात् शरीर और संसारको 'मैं'-'मेरा' न मानकर 'मैं भगवान्‌का ही हूँ और एक भगवान् ही मेरे हैं' इस प्रकार मान लेनेसे ही भगवान्‌की प्राप्ति सुगम हो जाती है। भगवान्‌में ही एकमात्र आत्मीयता और प्रेम होनेसे संसारके प्राणियोंमें दया और उपेक्षा तो हो सकती है, परंतु द्वेष होना सम्भव नहीं। अतः भक्तमें सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति द्वेषका अभाव रहता है।

ग्यारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें साधन-पञ्चकका वर्णन किया गया है। उसमें 'मत्कर्मकृत्', 'मत्परमः' और 'मद्भक्तः' पदोंसे जिन तीन साधनोंका वर्णन हुआ है, उन्हीं साधनोंका इस अध्यायके छठे श्लोकमें क्रमशः 'सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य', 'मत्पराः' और 'अनन्येनैव योगेन' पदोंद्वारा वर्णन किया गया है। साधन-पञ्चकमें 'सङ्गवर्जितः' पदसे बताये गये साधनका यहाँ छठे श्लोकमें भगवान्‌के प्रति अनन्य प्रेममें अन्तर्भाव कर लिया गया; क्योंकि संसारमें आसक्ति न रहनेसे ही भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो सकता है। राग न रहनेसे वैरभाव नहीं रहता अर्थात् साधन-पञ्चकका पाँचवाँ साधन—'निर्वैरः सर्वभूतेषु' भी इसके अन्तर्गत आ गया; परंतु स्पष्टरूपसे 'अद्वेष्टा' पद

सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें सबसे पहले देकर भगवान् यह बतलाते हैं कि साधकका किसीके साथ भी वैर विरोध नहीं रहना चाहिये ।

सिद्ध भक्तमें प्राणियोंके प्रति केवल द्वेषका ही अत्यन्त अभाव नहीं रहता, बल्कि उनके प्रति मित्रता और करुणाका भाव भी रहता है । एकमात्र प्रभुमें ही आत्मीयता होनेसे शरीर और संसारके प्रति अपनेपनका सर्वथा अभाव रहता है एवं शरीरमें अहंबुद्धि भी नहीं रहती । विकट-से-विकट और अत्यन्त सुखमय परिस्थितिकी प्राप्तिमें भी उसके अन्तःकरणमें समभाव रहता है । किसी भी प्राणीके द्वारा अपने प्रति किये गये अपराधको अपराध न माननेसे वह सदैव क्षमाशील होता है । एकमात्र भगवान् ही उसकी संतुष्टिका कारण होनेसे वह सदा ही संतुष्ट रहता है । केवल भगवान्में ही रमण करनेसे वह योगी है । उसके शरीरसहित मन-इन्द्रियाँ भलीभाँति वशमें हैं । उसके निश्चयमें सर्वत्र एक परमात्मा ही है । 'मैं भगवान्का ही हूँ और एक भगवान् ही मेरे हैं' इस प्रकार अनुभव करके उसने केवल भगवान्के साथ ही अपनी आत्मीयता कर ली है और भगवान्में ही अनन्य प्रेम करके वह बुद्धिसे भगवान्का ही निश्चय और मनसे भगवान्का ही चिन्तन करता है । इस प्रकारके भक्तको भगवान् अपना अत्यन्त प्यारा बतलाते हैं ।

अन्वय

सर्वभूतानाम् एव अद्वेष्टा मैत्रः च करुणः निर्ममः निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥

सततम् संतुष्टः योगी यतात्मा दृढनिश्चयः मयि अर्पितमनोबुद्धिः यः मद्भक्तः सः मे प्रियः ॥ १४ ॥

सर्वभूतानाम् एव अद्वेष्टा=जो सब भूतोंमें ही द्वेषभावसे रहित,

किसी भी प्राणीके साथ—यहाँतक कि अपना अत्यधिक अनिष्ट करनेवालेके साथ भी जिसका द्वेषभाव नहीं है।

अनिष्ट करनेवालोंके दो भेद हैं—(१) इष्टकी प्राप्तिमें बाधा देनेवाले अर्थात् धन, मान-बड़ाई, आदर-सत्कार, महिमा आदिकी प्राप्तिमें बाधा देनेवाले और (२) अनिष्ट पदार्थ, क्रिया, व्यक्ति, घटना आदिका संयोग करानेवाले। कोई कितना ही भक्तके शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियों और सिद्धान्तके प्रतिकूल किसी प्रकारका भी बर्ताव करे, इष्टकी प्राप्तिमें बाधा डाले, अनिष्ट करे, निन्दा करे, अपमान करे, किसी प्रकारकी आर्थिक और शारीरिक हानि पहुँचाये, भक्तके मनमें उसके प्रति कभी किंचिन्मात्र भी द्वेष नहीं होता। क्योंकि वह प्राणिमात्रमें भगवान्‌को ही व्याप्त देखता है, ऐसी दशामें वह विरोध करे तो किससे करे—

'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥'

(रा० च० मा०, उत्तर०, दो० ११२ ख)

इतना ही नहीं, वह अनिष्ट करनेवालोंकी सारी क्रियाओंको भगवान्‌का मङ्गलमय विधान मानता है।

मैत्रः च करुणः=स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है;

'अद्वेष्टा' पदसे भगवान्‌ने भक्तके अंदर सभी प्राणियोंके प्रति द्वेषका अत्यन्ताभाव बतलाया; किंतु भक्तमें केवल द्वेषका अभाव हो, इतनी ही बात नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें भगवद्भाव होते हुए मैत्री और दयाका बर्ताव भी होता है। भगवान् प्राणिमात्रके सुहृद् हैं—'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (गीता ५। २९) और भगवान्‌का स्वभाव ही भक्तका स्वभाव होता है; इसलिये भक्तका भी सभी प्राणियोंके प्रति बिना किसी स्वार्थके स्वाभाविक ही मैत्री और दयाका भाव रहता है—

'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥'

(रा० च० मा०, उत्तर०, ४६। ३)

भक्तका अपने अनिष्ट करनेवालोंके प्रति भी मित्रताका बर्ताव रहता है; क्योंकि वह समझता है कि अनिष्ट करनेवालेने अनिष्टके रूपमें भगवान्‌का विधान ही प्रस्तुत किया है। फलतः उसने जो कुछ किया है, मेरे लिये ठीक ही किया है; कारण, भगवान्‌का विधान बेठीक होता नहीं। इतना ही नहीं, भक्त यह मानता है कि उसका अनिष्ट करनेवाला अनिष्टमें निमित्त बनकर

पाप कर रहा है, फलतः वह विशेष प्यारका पात्र है। साधक-मात्रके मनमें यह भाव रहता है और रहना चाहिये कि उसका अनिष्ट करनेवाला उसके पापोंका फल भुगताकर उसे शुद्ध कर रहा है। ऐसी दशामें उसका भी अनिष्ट करनेवालेके प्रति मैत्री और करुणाका भाव रहता है; फिर भक्तकी तो बात ही क्या है। भक्तका तो उसके प्रति क्या, प्राणिमात्रके प्रति विलक्षण मैत्री और दयाका वर्ताव होता है।

पातञ्जलयोगदर्शनमें श्रीपतञ्जलि महाराजने चित्त-शुद्धिके चार हेतु बतलाये हैं—'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्या-पुण्याविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।' (१।३३) अर्थात् सुखियोंके साथ मैत्री, दुःखियोंके प्रति करुणा, पुण्यात्माओंके प्रति मुदिता और पापात्माओंकी उपेक्षासे चित्तमें प्रसन्नता होती है। भगवान्‌ने तो यहाँ भगवत्प्राप्त महापुरुषके लक्षणोंमें उदारस्वभावके कारण प्राणिमात्रके प्रति मैत्री और करुणाका भाव बतलाया है। भक्तका दुःखियों और पापात्माओंके प्रति भी मैत्री और दयाका वर्ताव रहता है, न कि उपेक्षाका।

निर्ममः=ममतासे रहित,

भक्तमें प्राणिमात्रके प्रति स्वाभाविक ही मैत्री और करुणाका भाव रहते हुए भी किसीके प्रति किंचित् भी ममता नहीं होती। प्राणी-पदार्थोंमें मेरेपनका भाव ही मनुष्यको संसारमें बाँधनेवाला होता है। भक्त इस मेरेपनके भावसे सर्वथा रहित होता है;

यहाँतक कि अपने शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिके प्रति भी उसके अंदर सर्वथा ममताका अभाव रहता है ।

साधक जबतक इन मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीरको अपना मानकर शुद्ध करनेकी चेष्टा करेगा, तबतक उसे देर लगेगी; क्योंकि इन्हें अपना मानना मूल अशुद्धि है । भगवान्‌ने पाँचवें अध्यायके ११वें श्लोकमें 'कायेन मनसा बुद्ध्या केवलै-रिन्द्रियैरपि' पदोंसे 'ममतारहित इन्द्रियों, मन, बुद्धि और शरीरसे अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्मयोगी साधन करते हैं' यह बताया है ।

दूसरे अध्यायके ७१वें श्लोकमें, तीसरे अध्यायके ३०वें श्लोकमें और अठारहवें अध्यायके ५३वें श्लोकमें 'निर्ममः' पद इसी भावमें आया है ।

निरहंकारः=अहंकारसे रहित,

भक्त अपने शरीरके प्रति अहंबुद्धिसे सर्वथा रहित होता है । भक्तमें श्रेष्ठ, दिव्य, अलौकिक गुण रहते हुए भी उसको वे अपने गुण नहीं प्रतीत होते; क्योंकि भक्तमें अवगुण तो रहते ही नहीं एवं गुणोंको दैवी सम्पत्ति होनेसे वह देव (भगवान्) के ही मानता है ।

सत्—परमात्माके होनेके कारण ही श्रेष्ठ गुण 'सद्गुण' कहलाते हैं; ऐसी दशामें भक्त उन्हें अपने कैसे मान सकता

है। इसलिये वह सर्वथा अहंकारसे रहित होता है। अपने अहंकार न रहनेसे और केवल भगवान्से ही सम्बन्ध रहनेके कारण उसके अन्तःकरणमें दिव्य गुण स्वतः आ जाते हैं।

दूसरे अध्यायके ७१वें श्लोकमें भी 'निरहंकारः' पद शरीरके प्रति अहंकारके सर्वथा अभावका द्योतक है।

समदुःखसुखः=सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम,

भक्त सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम रहता है, अर्थात् सुख-दुःख उसके हृदयमें राग-द्वेष आदि विकार उत्पन्न नहीं कर सकते।

भगवद्गीतामें 'सुख-दुःख' पद सुख-दुःखकी परिस्थिति, जो सुख-दुःख (हर्ष-शोक) उत्पन्न करनेमें हेतु हैं, उनके लिये तथा अन्तःकरणमें होनेवाले सुख-दुःख अर्थात् हर्ष-शोकादि विकारोंके लिये आया है। दूसरे अध्यायके १५वें तथा ३८वें श्लोकोंमें, इसी (बारहवें) अध्यायके १८वें श्लोकमें और चौदहवें अध्यायके २४वें श्लोकमें 'सुख-दुःख' पद सुख-दुःखकी परिस्थितिके लिये आया है और पंद्रहवें अध्यायके ५वें श्लोकमें 'सुखदुःख-संज्ञैः' पद अन्तःकरणमें होनेवाले हर्ष-शोकादि विकारोंके लिये आया है।

सुख-दुःखकी परिस्थिति मनुष्यको सुखी-दुःखी बनाकर ही बाँधती है। इसलिये सुख-दुःखमें सम होनेका भाव यही है

क्योंकि भगवान्‌का भक्त अन्तःकरणमें होनेवाले हर्ष-शोकादि विकारोंसे शून्य होता है। भक्तके भी शरीर, इन्द्रियों, मन और सिद्धान्तके अनुकूल-प्रतिकूल प्राणी-पदार्थ और घटनाओंका संयोग होगा तो उसे अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान भी होगा। यहाँ यह बात विशेष ध्यान देनेकी है कि किसी वस्तुका ज्ञान होना दोष नहीं है, किंतु उससे अन्तःकरणमें विकार होना ही दोष है। भक्तको अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान होते हुए भी किसी भी परिस्थितिमें उसके अन्तःकरणमें हर्ष-शोकादि विकार नहीं होते। वह हर्ष-शोकादि विकारोंसे सर्वथा रहित होता है। उदाहरणार्थ— प्रारब्धानुसार भक्तके शरीरमें रोग होनेपर शारीरिक पीड़ारूप दुःखका ज्ञान तो उसको होगा, किंतु उसके अन्तःकरणमें किसी प्रकारका विकार नहीं होगा।

क्षमी=क्षमावान् है;

अपना कैसा भी अपराध करनेवालेको, उसे किसी भी प्रकारका दण्ड देनेकी इच्छा न रखकर, क्षमा कर देनेवालेको 'क्षमी' कहते हैं।

भगवान्‌ने भक्तके लक्षणोंमें 'अद्वेष्टा' पद देकर अपराध करनेवालेके प्रति द्वेषका अभाव तो बतला दिया; यहाँ 'क्षमी' पदसे यह भाव दिखलाया है कि भगवान्‌के द्वारा अथवा किसी औरके द्वारा भी उसे दण्ड

न हो जाय, भक्तका ऐसा क्षमाभाव रहता है। ऐसा क्षमाभाव भक्तियोगीकी एक विशेषता है।

योगी=परमात्मामें युक्त हुआ

भक्तिके द्वारा परमात्माको प्राप्त पुरुषका नाम यहाँ 'योगी' है। जो नित्य-निरन्तर परमात्मासे जुड़ा हुआ है, अर्थात् जिसका कभी किसी अवस्थामें परमात्मासे वियोग होता ही नहीं, वह 'योगी' है।

'समत्वं योग उच्यते' (गीता २ । ४८) 'समताका नाम ही योग है।' भक्तमें समता स्वाभाविक ही रहती है। उसमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक कभी होते ही नहीं। इसलिये भी उसे 'योगी' कहा जाता है।

सततम् संतुष्टः=निरन्तर संतुष्ट है;

जीवको मनोनुकूल प्राणी-पदार्थ, घटना, परिस्थितिके संयोगमें एवं मनके प्रतिकूल प्राणी-पदार्थ, घटना, परिस्थितिके वियोगमें संतोष होता है; किंतु यह संतोष विजातीय एवं अनित्य पदार्थोंसे होनेके कारण स्थायी नहीं है। नित्य होनेके कारण जीवको नित्य परमात्माकी प्राप्तिसे ही वास्तविक और स्थायी संतोष होता है। भक्त भगवान्‌को प्राप्त होनेसे नित्य-निरन्तर संतुष्ट रहता है; क्योंकि भगवान्‌से

ही नहीं रहती, अतः उसके असंतोषका कोई कारण ही नहीं। इस संतुष्टिके मिलनेसे उसके हृदयमें संसारके किसी भी पदार्थके प्रति किंचित् भी महत्त्व-बुद्धि नहीं रह जाती—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
(गीता ६ । २२)

'संतुष्टः' के साथ 'सततम्' पद देकर भगवान्ने भक्तके उस नित्य-निरन्तर रहनेवाले संतोषकी ओर लक्ष्य कराया है, जिसमें कभी अन्तर पड़ता ही नहीं और कभी अन्तर पड़नेकी सम्भावना भी नहीं। ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग—किसी भी योगसे सिद्ध हुए महापुरुषमें ऐसी संतुष्टि निरन्तर रहती है।

दूसरे अध्यायके ५५वें श्लोकमें 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' पदोंसे कर्मयोगीकी, तीसरे अध्यायके १७वें श्लोकमें 'आत्मन्येव च संतुष्टः' पदोंसे ज्ञानयोगीकी, छठे अध्यायके २०वें श्लोकमें 'आत्मनि तुष्यति' पदोंसे ध्यानयोगीकी और इसी (बारहवें) अध्यायके १९वें श्लोकमें 'संतुष्टः' पदसे भक्तियोगीकी निरन्तर संतुष्टिका वर्णन हुआ है।

सिद्ध भक्तमें स्वाभाविक निरन्तर संतोष रहता है, जब कि साधक संतोष करनेकी चेष्टा करता है। चौथे अध्यायके २२वें श्लोकमें 'यदृच्छालाभसंतुष्टः' पदसे एवं दसवें अध्यायके ९वें श्लोकमें 'तुष्यन्ति' पदसे साधकके लिये संतुष्ट होनेकी बात कही गयी है।

यतात्मा = मन और इन्द्रियोंके सहित शरीरको वशमें किये हुए,

मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके सहित शरीरपर जिसका पूरा अधिकार हो, उसे 'यतात्मा' कहते हैं। सिद्ध भक्तको मन-बुद्धि आदिको वशमें करना नहीं पड़ता, बल्कि ये स्वाभाविक ही उसके वशमें रहते हैं। इसलिये उसमें किसी प्रकारके दुर्गुण-दुराचारके आनेकी सम्भावना ही नहीं रहती। मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ स्वाभाविक सन्मार्गपर चलनेके लिये ही हैं, किंतु संसारके साथ रागयुक्त सम्बन्ध रहनेसे ये (मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ) मार्गच्युत होती हैं। भक्तका संसारके साथ रागयुक्त सम्बन्ध किंचित् भी न रहनेके कारण उसकी मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ सर्वथा वशमें होती हैं।

ऐसा देखा जाता है कि न्यायपर चलनेवाले सत्पुरुषोंकी इन्द्रियाँ भी कुमार्गपर नहीं जातीं। उदाहरणार्थ, राजा दुष्यन्तकी वृत्ति शकुन्तलाकी ओर जानेपर उन्हें दृढ़ विश्वास होता है कि यह क्षत्रिय-कन्या ही है न कि ब्राह्मण-बालिका; जैसा कि ऋषि-बालकोंने उन्हें बतलाया था। कविशिरोमणि कालिदासके कथनानुसार सत्पुरुष इस विश्वासमें अपने अन्तःकरणकी वृत्तियोंको ही प्रमाण मानते हैं—'प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः'। जब न्यायपर चलनेवाले सत्पुरुषोंकी इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति भी स्वतः कुमार्गकी ओर नहीं होती तो फिर जो सिद्ध भक्त न्याय-धर्मसे कभी किसी अवस्थामें च्युत हो ही नहीं सकता, उसकी मन-बुद्धि-

इन्द्रियाँ कुमार्गकी ओर जा ही कैसे सकती हैं ! भगवान्‌ने इसी भावको 'यतात्मा' पदसे कहा है।

पाँचवें अध्यायके २५वें श्लोकमें 'यतात्मानः' पद सिद्ध ज्ञानी महात्माओंके लक्षणोंमें आया है और इसी (बारहवें) अध्यायके ११वें श्लोकमें 'यतात्मवान्' पदके द्वारा साधकोंके लिये मन-इन्द्रियोंको वशमें करनेकी बात कही गयी है।

दृढनिश्चयः=मुझमें दृढ़ निश्चयवाला,

तत्त्वज्ञानीके अन्तःकरणमें अपने शरीरसहित संसारकी सत्यताका अभाव रहता है। इसलिये उसकी बुद्धिमें एक परमात्माकी ही अटल सत्ता रहती है। अतः उसकी बुद्धिमें विपर्यय-दोष रहता ही नहीं। सिद्ध भक्तका केवल भगवान्‌के साथ ही नित्य सम्बन्ध रहता है। अतः उसका भगवान्‌में ही दृढ़ निश्चय होता है। बुद्धिमें जहाँ भी विपर्यय और संशयरूप दोष रहते हैं, वे सब संसारकी सत्ता या संसारके साथ सम्बन्ध होनेसे ही होते हैं। विपर्यय और संशयवाली बुद्धिमें स्थिरता नहीं होती। ज्ञानी और अज्ञानीको देखा जाय तो उनकी बुद्धिमें ही अन्तर रहता है, स्वरूपसे तो दोनों एक ही हैं। अज्ञानीकी दृष्टिमें संसारका महत्त्व और भाव रहता है, किंतु सिद्ध भक्तके लिये एक भगवान्‌के सिवा संसारकी किसी भी वस्तुकी स्वतन्त्र सत्ता और उसके प्रति आदर-बुद्धि नहीं रहती। अतः

उसकी बुद्धि विपर्यय और संशयदोषसे सर्वथा रहित होती है, उसका एक परमात्मामें ही दृढ़ निश्चय होता है।

दूसरे अध्यायके ५४वें श्लोकमें 'स्थितप्रज्ञस्य' और 'स्थितधीः' पद, ५५वें श्लोकमें 'स्थितप्रज्ञः' पद, ५६वें श्लोकमें 'स्थितधीः' पद तथा ५७वें, ५८वें, ६१वें और ६८वें श्लोकोंमें 'प्रज्ञा प्रतिष्ठिता' पद, पाँचवें अध्यायके १९वें श्लोकमें 'येषां साम्ये स्थितं मनः' पद तथा २०वें श्लोकमें 'स्थिरबुद्धिः' पद और इसी (बारहवें) अध्यायके १९वें श्लोकमें 'स्थिरमतिः' पद सिद्ध महापुरुषोंमें स्वतः रहनेवाले दृढ़ निश्चयका बोध कराते हैं।

दूसरे अध्यायके ४१वें तथा ४४वें श्लोकोंमें 'व्यवसायात्मिका बुद्धिः' पद, सातवें अध्यायके २८वें श्लोकमें तथा नवें अध्यायके १४वें श्लोकमें 'दृढव्रताः' पद तथा उसी अध्यायके ३०वें श्लोकमें 'सम्यग्व्यवसितः' पद साधकमें रहनेवाले दृढ़ निश्चयका बोध करानेके लिये आये हैं। इस दृढ़ निश्चयकी भगवान्‌ने गीतामें स्थान-स्थानपर बड़ी प्रशंसा की है।

मयि अर्पितमनोबुद्धिः=मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला

जब साधक एकमात्र भगवत्प्राप्तिको ही अपना उद्देश्य बना लेता है, तब उसके मन-बुद्धि भी अपने-आप भगवान्‌में लग जाते हैं—'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' (गीता ८ । ७)। फिर सिद्ध भक्तके मन-बुद्धि भगवान्‌के अर्पित रहें—इसमें तो कहना ही क्या है।

जहाँ प्रेम होता है, वहाँ स्वाभाविक ही मन लगता है एवं जिसको मनुष्य सिद्धान्ततः श्रेष्ठ समझता है, उसमें स्वाभाविक ही उसकी बुद्धि लगती है। भक्तके लिये भगवान्‌से बढ़कर कोई प्रिय और श्रेष्ठ नहीं है।

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम्' (गीता ७। १७)

अतः उसके मन-बुद्धि स्वाभाविक ही भगवान्‌में लगे रहते हैं।

यः=जो
मद्भक्तः=भक्तिमार्गसे मुझको प्राप्त हुआ—मेरा भक्त है।

इस (बारहवें) अध्यायके १६वें श्लोकमें भी 'मद्भक्तः' पद इसी भावमें आया है।

नवें अध्यायके ३४वें और अठारहवें अध्यायके ६५वें श्लोकोंमें 'मद्भक्त;' पदसे साधकको भक्त बननेकी आज्ञा दी गयी है।

सातवें अध्यायके २३वें श्लोकमें तथा ग्यारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें 'मद्भक्तः' पद, नवें अध्यायके ३१वें श्लोकमें 'मे भक्तः' पद, १२वें अध्यायके १८वें श्लोकमें 'मद्भक्तः' पद और अठारहवें अध्यायके ६८वें श्लोकमें 'मद्भक्तेषु' पद साधक भक्तके वाचक हैं।

संताप-क्षोभ और उद्वेगादि विकार उसके अन्तःकरणमें होते ही नहीं। भगवान्‌के सिवा संसारका किंचित् भी स्वतन्त्र आदर न होनेसे संसारके साथ सम्बन्ध होते हुए भी हर्ष-ईर्ष्या, भय-उद्वेगादि विकारोंसे वह सर्वथा मुक्त होता है। इन विकारोंसे मुक्त हुआ भक्त केवल भगवान्‌में ही लगा रहता है, इसीलिये वह भगवान्‌का अत्यन्त प्यारा होता है। उसे भी भगवान्‌के सिवा कोई भी, कहीं भी, किंचिन्मात्र भी प्यारा नहीं होता। उसका भगवान्‌में प्रेम स्वतःसिद्ध होता है।

अन्वय

यस्मात् लोकः न उद्विजते च यः लोकात् न उद्विजते च यः हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः सः मे प्रियः ॥ १५ ॥

यस्मात् लोकः न उद्विजते=जिससे किसी भी जीवको उद्वेग नहीं होता

भक्त सर्वत्र और सबमें अपने प्यारे प्रभुको देखता है—'सर्वं वासुदेवः' (गीता ७ । १९), 'निज प्रभुमय देखहिं जगत' (रामचरित० ७ । ११२ ख) ।' अतः मन, वाणी और शरीरसे होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ उसकी दृष्टिमें एकमात्र भगवान्‌के साथ ही होती हैं (गीता ६ । ३१)। ऐसी अवस्थामें भक्त किसी जीवको कैसे उद्वेग पहुँचा सकता है। फिर भी भक्तोंके चरित्रोंमें देखा जाता है कि उनकी महिमा, आदर-सत्कार तथा कहीं-कहीं उनकी क्रिया—यहाँतक कि उनके मुखकी सौम्य आकृति-

मात्र कुछ लोगोंके उद्वेगका कारण बन जाती है। वे लोग इस प्रकार उद्विग्न होकर भक्तोंसे द्वेष और विरोध करने लगते हैं एवं उन्हें दुःख पहुँचानेकी चेष्टा भी कर बैठते हैं किंतु इसके विपरीत—जैसा कि आगे कहे गये 'लोकात् न उद्विजते' पदोंसे प्रकट होता है—भक्त उनसे उद्विग्न नहीं होता। यह भक्तकी महिमा है। लोगोंको भक्तसे उद्वेग होनेके सम्बन्धमें गहरा विचार किया जाय तो पता चलेगा कि भक्तकी क्रिया उनके उद्वेगका कारण नहीं होती; क्योंकि भक्त 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' (गीता ५।७) (अर्थात् सब प्राणियोंकी आत्मा हो जिसकी आत्मा है) होता है। उसकी मात्र क्रियाएँ प्राणियोंके परमहितके लिये ही होती हैं। उससे कभी भूलकर भी किसीके अहितकी चेष्टा हो ही नहीं सकती। इसलिये जिनको उससे उद्वेग होता है, उनके उद्वेगका कारण उनका अपना राग-द्वेष-ईर्ष्यायुक्त आसुरी स्वभाव ही होता है। उस दोषयुक्त स्वभावके कारण ही भक्तकी हितपूर्ण चेष्टा भी उनको उद्वेगजनक दीखती है। इसमें भक्तका क्या दोष है?

> मृग मच्छी सज्जन पुरुष रत तृन जल संतोष।
> ब्याधा धीवर पिसुन जन करहिं अकारन रोष॥

भक्तोंसे जीवोंको वास्तवमें उद्वेग होनेका तो प्रश्न ही नहीं है, उल्टे भक्तोंके चरित्रोंमें ऐसे प्रसङ्ग भी आये हैं कि

उनसे द्वेष अथवा विरोध करनेवाले लोग उनके चिन्तन और सङ्गके प्रभावसे अपना आसुरी स्वभाव छोड़कर भक्त बन गये। इसमें भक्तोंका उदारतापूर्ण स्वभाव ही हेतु है—'उदाराः सर्व एवैते' (गीता ७ । १८) गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने भी कहा है—

उमा संत कइ इहइ बड़ाई । मंद करत जो करइ भलाई ॥
(रामचरित० ५ । ४० । ४)

किंतु भक्तोंसे द्वेष करनेवाले सभीको लाभ ही हो, ऐसा नियम भी नहीं है।

'यस्मान्नोद्विजते लोकः' इन पदोंका अर्थ करते समय यह बताया गया कि लोगोंको अपने आसुरी स्वभावके कारण भक्तकी क्रियाओंसे उद्वेग हो सकता है और वे बदलेमें भक्तके विरुद्ध क्रिया कर सकते हैं, अर्थात् वे अपनेको भक्तके शत्रु मान सकते हैं। उक्त पदोंका अर्थ ठीक ही हुआ है; क्योंकि इस बारहवें अध्यायके १८वें श्लोकमें सिद्ध भक्तके लक्षणोंका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने 'समः शत्रौ च मित्रे' पदोंका प्रयोग किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि भक्तके भी शत्रु और मित्र होते हैं (यद्यपि भक्तकी दृष्टिमें कोई शत्रु-मित्र नहीं होता, तथापि

दूसरे लोग अपनी मान्यताके अनुसार उसके शत्रु-मित्र बने रहते हैं)। यदि इन पदोंका अर्थ ऐसा किया जाता कि भक्तसे किसीको उद्वेग होता ही नहीं, दूसरे लोग भक्तके विरुद्ध चेष्टा ही नहीं करते तो फिर भक्तके लिये शत्रु-मित्रमें सम होनेकी बात नहीं कही जाती, बल्कि यह कहा जाता कि भक्तके शत्रु-मित्र नहीं होते।

च यः लोकात् न उद्विजते=और जो किसी जीवसे उद्वेजित नहीं होता

'यस्मान्नोद्विजते लोकः' इस पदमें भगवान् बता आये हैं कि भक्त किसी प्राणीके उद्वेगका कारण नहीं होता और अब इन पदोंके द्वारा कह रहे हैं कि उसे स्वयं किसी प्राणीसे उद्वेग नहीं होता।

भक्तके भी शरीर, मन, इन्द्रियों और सिद्धान्तके विरुद्ध परेच्छासे क्रिया और घटना घट सकती है। परंतु भक्तका भगवान्में अत्यधिक प्रेम होनेके कारण वह उस प्रेममें इतना निमग्न रहता है कि उसे सर्वत्र और सबमें भगवान् ही दीखते हैं। इसलिये प्राणिमात्रकी क्रियाएँ, वे चाहे उसके कितनी ही विरुद्ध क्यों न हों, उसे भगवान्‌की लीला ही दीखती हैं। अतः किसी भी क्रियासे उसे कभी उद्वेग नहीं होता।

अपनी कामना, मान्यता, साधना अथवा धारणाका विरोध होनेसे ही मनुष्यको दूसरोंसे उद्वेग होता है। भक्त सर्वथा

पूर्णकाम होता है। इसलिये उसको उद्वेग होनेका कोई कारण ही नहीं रहता।

च=तथा
यः=जो
हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः=हर्ष, अमर्ष, भय एवं उद्वेगसे रहित है;

'हर्ष'का अर्थ है प्रसन्नता। प्रसन्नता तीन प्रकारकी होती है—तामसी, राजसी और सात्त्विक। निद्रा-आलस्य-प्रमादमें अज्ञानी पुरुषोंको सुखकी प्रतीति होती है—यह तामसी प्रसन्नता है। यह प्रसन्नता सर्वथा त्याज्य है।

शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियोंके अनुकूल वस्तु, व्यक्ति, घटनाके संयोगसे एवं प्रतिकूल वस्तु, व्यक्ति, घटनाके वियोगसे साधारण मनुष्योंके हृदयमें प्रसन्नता होती है—यह राजसी प्रसन्नता है। सांसारिक सम्बन्धोंको लेकर जितनी भी प्रसन्नता है, वह सब राजसी प्रसन्नता है। राजसी प्रसन्नताके आरम्भमें सुख प्रतीत होता है, परंतु परिणाम इसका दुःखदायी होता है।

राग-द्वेष-शून्य होकर संसारके विषयोंका सेवन करनेसे, संसारके प्रति त्यागका भाव होनेसे, परमात्मामें बुद्धि लग जानेसे, भगवान्के गुण-प्रभाव-तत्त्व-रहस्य-लीला आदिकी बातें सुननेसे एवं सत्-शास्त्रोंके पठन-पाठनसे साधकोंके चित्तमें प्रसन्नता होती है—यह सात्त्विक प्रसन्नता है। दूसरे

अध्यायके ६४वें श्लोकमें 'प्रसादम्' पद एवं अठारहवें अध्यायके ३७वें श्लोकमें 'आत्मबुद्धिप्रसादजम्' पद सात्त्विक प्रसन्नताका वाचक है।

संसारसे वैराग्य होनेपर साधककी प्रगति स्वतः भगवान्‌की ओर होती है। संसारसे सर्वथा वैराग्य न होनेसे और भगवान्‌के मिलनेमें देर होनेसे साधकके चित्तमें एक व्याकुलता पैदा होती है। यह व्याकुलता भी सात्त्विक प्रसन्नताका ही अङ्ग है। इस (सात्त्विक) प्रसन्नताका उपभोग करनेसे यह प्रसन्नता मिट जाती है और इसका उपभोग साधनमें बाधा देता है (गीता १४।६)। साधकको चाहिये कि इस प्रसन्नताका उपभोग न करे एवं संसारसे विमुख होकर एक परमात्माकी ओर ही अपना लक्ष्य रखे। इस प्रसन्नतामें ऐसी शक्ति है कि यह व्याकुलताको समाप्त करके स्वयं भी उसी प्रकार शान्त और एकरस हो जाती है, जैसे अग्नि काठको जलाकर स्वयं भी शान्त हो जाती है। इसके फलस्वरूप साधकको महान् आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। (गीता २।६५)

यहाँ हर्षसे मुक्त होनेका तात्पर्य यह है कि सिद्ध भक्त सब प्रकारके (सात्त्विक, राजस, तामस) हर्षादि विकारोंसे सर्वथा मुक्त होता है। पाँचवें अध्यायके २०वें श्लोकमें 'न प्रहृष्येत्' पदसे और इसी (बारहवें) अध्यायके १७वें श्लोकमें 'न हृष्यति' पदसे यह बतलाया गया है कि सांसारिक संयोग-वियोग-जन्य हर्ष सिद्ध भक्तको नहीं होता।

इसका अभिप्राय यह नहीं कि सिद्ध भक्त प्रसन्नताशून्य होता है; बल्कि उसकी प्रसन्नता एकरस, विलक्षण, नित्य और अलौकिक होती है। वह पदार्थोंके संयोग-वियोगसे उत्पन्न, क्षणिक, नाशवान् एवं घटने-बढ़नेवाली नहीं होती। सर्वत्र भगवद्बुद्धि रहनेसे, एकमात्र अपने प्यारे भगवान्‌को और उनकी लीलाओंको देख-देखकर वह स्वाभाविक ही सदा प्रसन्न रहता है।

पहले अध्यायके १२वें श्लोकमें और अठारहवें अध्यायके २७वें श्लोकमें 'हर्ष' शब्द राजसी प्रसन्नताके लिये आया है।

ग्यारहवें अध्यायके ४५वें श्लोकमें 'हृषितः' पद, सत्रहवें अध्यायके १६वें श्लोकमें 'मनःप्रसादः' पद तथा अठारहवें अध्यायके ७६वें और ७७वें श्लोकोंमें 'हृष्यामि' पद सात्त्विक प्रसन्नताके लिये आया है।

ग्यारहवें अध्यायके ४७वें श्लोकमें 'प्रसन्नेन' पद भगवान्‌की कृपाका द्योतक है।

अपने समान या अपनेसे अधिक सुख-सुविधा, विद्या, महिमा, आदर-सत्कार आदि देखनेपर मनुष्यके मनमें दूसरोंके इस प्रकारके उत्कर्ष (उन्नति) को न सह सकनेकी वृत्ति उत्पन्न होती है। इसीको 'अमर्ष' कहते हैं। यह अमर्ष अच्छे कहे जानेवाले पुरुषोंमें भी कहीं-कहीं उत्पन्न होता देखा जाता है। कई साधकोंमें भी दूसरे साधकोंकी आध्यात्मिक उन्नति

और प्रसन्नता देखकर अथवा सुनकर इस प्रकारके अमर्षका किंचित् भाव पैदा हो जाता है। भगवद्भक्त इस विकारसे सर्वथा रहित होता है; क्योंकि उसकी बुद्धिमें अपने प्यारे प्रभुके सिवा अन्य कोई रहता ही नहीं। फिर वह कैसे और किसके प्रति अमर्ष करे।

दूसरोंकी आध्यात्मिक उन्नतिसे साधकके मनमें जो यह भाव पैदा होता है कि मेरी भी ऐसी आध्यात्मिक उन्नति हो, ऐसा भाव तो साधनमें सहायक होता है। इसके विपरीत, यदि साधकके मनमें कदाचित् ऐसा भाव उत्पन्न हो जाय कि इसकी उन्नति क्यों हो गयी और इस भावके कारण उसके हृदयमें उसके प्रतिद्वेष उत्पन्न हो जाय तो यह अमर्षका भाव उसे पतनकी ओर ले जायगा।

चौथे अध्यायके २२वें श्लोकमें 'विमत्सरः' पद साधकों-के लिये अमर्षसे रहित होनेका संकेत करता है।

इष्टके वियोग और अनिष्टके संयोगकी आशङ्कासे उत्पन्न होनेवाले विकारको 'भय' कहते हैं।

भय दो प्रकारके होते हैं–(१) बाहरी कारणोंसे— जैसे सिंह, साँप, चोर, डाकू आदिसे किसी प्रकारकी सांसारिक हानि पहुँचनेकी आशङ्कासे होनेवाला और (२) चोरी, व्यभि-चार आदि शास्त्रविरुद्ध आचरणोंसे होनेवाला।

सबसे प्रबल भय मृत्युका होता है। अच्छे विवेकशील कहे जानेवाले पुरुषोंको भी मरणका भय सदा बना रहता है। साधकको भी सत्सङ्ग-भजन-ध्यानादि करते हुए साधन-भजनसे शरीरके सूखने आदिका भय रहता है एवं यह भय भी रहता है कि संसारसे सर्वथा वैराग्य हो जानेपर शरीर और गृहस्थका पालन कैसे होगा। साधारण मनुष्यको मनचाही वस्तुकी प्राप्तिमें और प्राप्तिकी आशामें बाधा देनेवाले अपनी अपेक्षा बलवान् मनुष्यसे भय होता है। किंतु भगवद्भक्तको सर्वथा भगवान्‌के चरणोंका आश्रय रहनेसे वह सदैव भयरहित होता है। साधक-को भी भय तभीतक रहता है, जबतक कि वह भगवान्‌के चरणोंका सर्वथा आश्रय नहीं लेता।

सिद्ध भक्तको सर्वत्र अपने प्यारे प्रभुकी लीला ही दीखती है और भगवान्‌की लीला भक्तके हृदयमें भय कैसे उत्पन्न कर सकती है। अर्थात् भक्त सदैव भयरहित रहता है।

दूसरे अध्यायके ३५वें श्लोकमें तथा ४०वें श्लोकमें आये हुए 'भयात्' पद, तीसरे अध्यायके ३५वें श्लोकके अन्त-र्गत 'भयावहः' पद, दसवें अध्यायके ४थे श्लोकमें और अठारहवें अध्यायके ३५वें श्लोकमें प्रयुक्त 'भयम्' पद, ग्यारहवें अध्यायके २७वें श्लोकमें आया हुआ 'भयानकानि' पद, ४५वें श्लोकमें 'भयेन' पद और अठारहवें अध्यायके ३०वें श्लोकमें प्रयुक्त 'भयाभये' पदके अन्तर्गत 'भय' शब्द—सभी भयके वाचक हैं।

मनके एकरूप न रहकर हलचलयुक्त हो जानेको 'उद्वेग' कहते हैं। इस श्लोकमें 'उद्वेग'का उल्लेख तीन बार आया है। पहली बार भगवान्‌ने इसका उल्लेख करके यह बताया है कि भक्त किसीके उद्वेगका कारण नहीं बनता। मूर्खता और आसुरी स्वभावके कारण लोग उससे उद्वेजित हो जाते हैं; पर इसमें भक्तका कोई दोष नहीं होता। दूसरी बार उद्वेगकी बात कहकर भगवान्‌ने यह बताया कि दूसरे प्राणियोंकी किसी भी क्रियासे भक्तके अन्तःकरणमें उद्वेग नहीं होता। इसके सिवा, अन्य कई कारणोंसे—बार-बार प्रत्यन करनेपर भी अपनी क्रियाके पूर्ण न होनेसे, क्रियाका मनचाहा फल न मिलनेसे, अनिच्छासे प्राप्त ऋतु-परिवर्तन, भूकम्प, बाढ़ आदि दुःखदायी घटनाओंसे और अपनी कामना, मान्यता, सिद्धान्त अथवा साधनमें विघ्न पड़नेसे भी मनुष्यको उद्वेग होनेकी सम्भावना रहती है। इन सभी प्रकारके उद्वेगोंसे भक्त सर्वथा मुक्त होता है—यह बतलानेके लिये तीसरी बार 'उद्वेग' का उल्लेख किया गया है। तात्पर्य यह है कि भक्तके अंदर 'उद्वेग' नाम-की कोई वस्तु रहती ही नहीं। उद्वेग उत्पन्न होनेमें कारण अज्ञानजनित इच्छा और आसुरस्वभाव हैं। भक्तमें अज्ञानका सर्वथा अभाव होनेसे स्वतन्त्र इच्छा रहती नहीं, फिर आसुरी सम्पदा तो रह ही कैसे सकती है। भगवान्‌की इच्छा ही भक्तकी इच्छा होती है। स्वकृत क्रियाओंके फलरूपमें या अनिच्छासे जो कुछ अच्छे-बुरे पदार्थों एवं सुख-दुःखोंकी प्राप्ति होती है,

उसमें भगवान्‌की इच्छा हेतु होनेसे उसकी दृष्टिमें वह भगवान्‌की ही लीला होती है। इस प्रकार भगवान्‌की लीला समझकर भक्त हर समय आनन्दमें मग्न रहता है। ऐसे भक्तमें उद्वेगका अत्यन्ताभाव होता है।

दूसरे अध्यायके ५६वें श्लोकमें 'अनुद्विग्नमनाः' पदसे तथा पाँचवें अध्यायके २०वें श्लोकमें 'न उद्विजेत्' पदोंसे सिद्ध पुरुषको किसी प्रकारकी भी प्रतिकूलता और अप्रियकी प्राप्तिपर उद्वेग न होनेकी बात ही कही गयी है। सत्रहवें अध्यायके १५वें श्लोकमें 'अनुद्वेगकरम्' पद उद्वेग पैदा न करनेवाली वाणीके लिये आया है।

'मुक्तः' का अर्थ है विकारोंसे सर्वथा छूटा हुआ। हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादि विकार अन्तःकरणमें संसारका आदर रहनेसे ही अर्थात् परमात्माकी ओर पूरी तरह न लगनेसे ही उत्पन्न होते हैं। भक्त भगवान्‌में इतना तन्मय रहता है कि उसकी दृष्टिमें भगवान्‌के सिवा दूसरी वस्तु रहती ही नहीं। इसलिये उसके अन्तःकरणमें किसी भी प्रकारके विकार उत्पन्न होनेकी सम्भावना नहीं रहती, अपितु उसमें स्वाभाविक ही सद्गुण-सदाचार रहते हैं।

यहाँ इस श्लोकमें 'भक्तः' पद न देकर भगवान् 'मुक्तः' पद देते हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि यावन्मात्र दुर्गुण-दुराचार-से भक्त सर्वथा छूटा हुआ होता है।

गुणोंका अभिमान होनेसे दुर्गुण अपने-आप आ जाते हैं। अपने अन्तःकरणमें रहनेवाले सद्गुणोंको भक्त अपने गुण नहीं मानता। वह उनको भगवान्‌की विभूति मानता है। अतः सद्गुणोंका अभिमान न होनेसे उसमें किसी प्रकारके दुर्गुण-दुराचारोंके आनेकी सम्भावना ही नहीं रहती।

पाँचवें अध्यायके २८वें श्लोकमें 'मुक्तः' पदसे साधकोंको विकारोंसे मुक्त बतलाया गया है। अठारहवें अध्यायके ७१वें श्लोकमें 'मुक्तः' पदका प्रयोग करके यह बताया गया है कि गीता-श्रवणसे मनुष्य पापोंसे छूट जाता है तथा उसी अध्यायके ४०वें श्लोकमें 'मुक्तम्' पदसे यह सूचित किया गया कि कोई भी प्राणी तीनों गुणोंसे मुक्त नहीं होता। इसी प्रकार चौथे अध्यायके २३वें श्लोकमें 'मुक्तस्य' पदसे सिद्ध कर्मयोगीके आसक्तिसे सर्वथा शून्य होनेकी बात कही गयी तथा तीसरे अध्यायके ९वें श्लोकमें एवं अठारहवें अध्यायके २६वें श्लोकमें 'मुक्तसङ्गः' पदके प्रयोगसे साधकको आसक्तिरहित होनेके लिये कहा गया है।

सः=वह भक्त
मे=मुझे
प्रियः=प्रिय है।

भगवान्‌के सिवा और कहीं किंचित् भी आसक्ति न रहनेसे भक्तमें अवगुण रहते ही नहीं और गुणोंको अपने नहीं माननेसे

अभिमान भी नहीं रहता। ऐसा भक्त एकमात्र भगवान्‌को ही अपना प्यारा मानता है और 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' (गीता ४।११) के अनुसार ऐसे भक्तके विषयमें भगवान् कहते हैं कि 'वह मुझे अत्यन्त प्यारा होता है।'

सम्बन्ध

सिद्ध भक्तके छः लक्षणोंका निर्देश करनेवाला तीसरा प्रकरण——

श्लोक

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

भावार्थ

भगवान्‌को प्राप्त होनेपर भक्त पूर्णकाम हो जाता है; अतः उसके मनमें किसी वस्तु-क्रिया-पदार्थकी इच्छा, वासना और स्पृहा नहीं रहती। उसमें स्वतः महान् पवित्रता होती है। वह करने योग्य कार्य कर चुकता है। उसके अन्तःकरणमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक होते नहीं। किसी कार्यके प्रारम्भमें उसका 'मैं करता हूँ' ऐसा भाव रहता ही नहीं। वर्णाश्रमानुसार कालोचित संसारकी क्रिया होते हुए भी वह संसारसे सर्वथा तटस्थ ही रहता है तथा एकमात्र भगवान्‌में ही तन्मय रहता है। ऐसा भक्त भगवान्‌को प्यारा होता है।

अन्वय

यः अनपेक्षः शुचिः दक्षः उदासीनः गतव्यथः सर्वारम्भपरित्यागी मद्भक्तः सः मे प्रियः ॥ १६ ॥

यः=जो

अनपेक्षः=आकाङ्क्षासे रहित,

आवश्यक वस्तुओंकी भी स्पृहा नहीं रखनेवाला भगवद्भक्त भगवान्‌को ही सर्वोत्तम वस्तु मानता है; उससे बढ़कर उसकी दृष्टिमें कोई लाभ नहीं, जिसके लिये वह ललचाये। संसारकी किसी भी वस्तुके प्रति उसका किंचिन्मात्र कभी आकर्षण नहीं रहता। इतना ही नहीं, उसका मन, बुद्धि, शरीरमें भी अपनापन नहीं रहता, बल्कि वह उनको भगवान्‌के ही मानता है। अतः उसे शरीर-निर्वाहकी भी चिन्ता नहीं होती। तब फिर वह और किस बातकी अपेक्षा करे? अर्थात् किस बातकी इच्छा-वासना-स्पृहा रखे?

कितनी भी बड़ी आपत्ति उसपर आ जाय, तो भी उसके चित्तपर प्रतिकूलताका असर नहीं होता। इसलिये वह किसी प्रकारकी अनुकूलताकी कामना ही नहीं करता। विकट-से-विकट परिस्थितिमें भी वह भगवान्‌की लीला देखकर मुग्ध रहता है।

भक्तका भाव यह होता है कि नाशवान् पदार्थ तो रहेंगे नहीं, उनका नाश अवश्यम्भावी है और अविनाशी परमात्मासे

कभी वियोग होता नहीं। अतः वह नाशवान् पदार्थोंकी इच्छा ही नहीं करता?

एक बात विशेष ध्यान देनेकी है कि इच्छा करनेसे ही शरीर-निर्वाहके पदार्थ मिलते हों—ऐसी बात नहीं है। शरीर-निर्वाहकी अपेक्षित सामग्री स्वतः आती है; क्योंकि भगवान्‌की ओरसे जीवमात्रके शरीर-निर्वाहकी अपेक्षित सामग्रीका प्रबन्ध स्वतः हुआ रहता है। इच्छा करनेसे तो आवश्यक वस्तुओंके आनेमें आड़ ही लगती है; क्योंकि इच्छाको अपने अन्तःकरणमें ही पकड़ लेनेके कारण फैलने नहीं दिया जाता अर्थात् दूसरे पुरुषोंको उस आवश्यकताका अनुभव नहीं होने दिया जाता। ऐसा देखा जाता है कि इच्छा न रखनेसे स्वतः दूसरोंके अन्तःकरणमें इच्छा न रखनेवालोंको वस्तु देनेकी प्रेरणा होती है। जैसे विरक्त त्यागी और बालक शरीर-निर्वाहके प्रबन्धकी इच्छा स्वयं नहीं करते तो उनकी आवश्यकताओंका अनुभव अपने-आप दूसरोंको होता है, जिसके फलस्वरूप दूसरे स्वतः ही उनके शरीर-निर्वाहका प्रबन्ध करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि इच्छा न करनेसे बिना माँगे जीवन-निर्वाहकी वस्तुएँ स्वतः मिलती हैं। अतः अपेक्षित वस्तुओंकी इच्छा करना केवल मूर्खता और अकारण दुःख पाना ही है। सिद्ध भक्तको तो अपने कहे जानेवाले शरीरकी भी परवा नहीं होती, इसलिये वह सर्वथा निरपेक्ष ही होता है।

भगवान् दर्शन दें या न दें—किसी-किसी भक्तको इसकी भी अपेक्षा नहीं होती। भगवान् दर्शन दें तो आनन्द; न दें तो भी आनन्द है—वह तो भगवान्‌की प्रसन्नतामें ही उनकी कृपाको देखकर मस्त रहता है। उसकी मस्तीको देखकर भगवान् उसके पीछे-पीछे दौड़ते हैं।

> निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शिनम्।
> अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥
>
> (श्रीमद्भा० ११। १४। १६)

'जिसे किसीकी अपेक्षा नहीं, जो जगत्‌के चिन्तनसे सर्वथा उपरत होकर मेरे ही मनन-चिन्तनमें तल्लीन रहता है और राग-द्वेष न रखकर सबके प्रति समान दृष्टि रखता है, उस महात्माके पीछे-पीछे मैं निरन्तर यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उसके चरणोंकी धूल उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ।'

भगवान्‌को छोड़कर किसी अन्य वस्तुको चाहनेवाला भक्त उस इच्छित वस्तुका ही भक्त है, परंतु भगवान्‌की यह उदारता है कि किसी अन्यसे वस्तुकी इच्छा न रखनेके कारण उसे अपना भक्त मान लेते हैं और इतना ही नहीं, भक्त ध्रुवकी भाँति उसकी इच्छाको पूर्ण करके उसे सर्वथा निःस्पृह भी बना देते हैं।

शुचिः = बाहर-भीतरसे शुद्ध,

'शुचिः' पद केवल बाहरकी पवित्रताका ही द्योतक नहीं है। भक्तका शरीर बाहरसे तो पवित्र होता ही है, साथ ही उसका अन्तःकरण भी अत्यन्त पवित्र होता है। ऐसे पवित्र भक्तके स्पर्श, दर्शन, भाषण और चिन्तनसे लोग पवित्र हो जाते हैं। तीर्थ सब लोगोंको पवित्र करते हैं, किंतु भगवान्‌के भक्त तीर्थोंको भी तीर्थत्व प्रदान करते हैं अर्थात् तीर्थ भी उनके चरणस्पर्शसे पवित्र हो जाते हैं—

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥

(श्रीमद्भा० १।१३।१०)

'पवित्राणां पवित्रम्'—पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाले भगवान् भक्तोंके हृदयमें निवास करते हैं, इसीलिये भक्त अत्यन्त पवित्र हैं।

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः॥

(श्रीमद्भा० ९।९।६)

राजा भगीरथने गङ्गाजीसे कहा है—'माता! जिन्होंने लोक-परलोक, धन-सम्पत्ति और स्त्री-पुत्रकी कामनाका संन्यास कर दिया है, जो संसारसे उपरत होकर अपने आपमें शान्त हैं, जो ब्रह्मनिष्ठ और लोकोंको पवित्र करनेवाले परोपकारी सज्जन हैं, वे अपने अङ्ग-स्पर्शसे तुम्हारे पापोंको नष्ट कर देंगे; क्योंकि उनके

हृदयमें अघरूप अघासुरको मारनेवाले भगवान् सर्वदा निवास करते हैं।'

छठे अध्यायके ११वें श्लोकमें 'शुचौ' पद पवित्र स्थानके लिये, ४१वें श्लोकमें 'शुचीनाम्' पद पवित्र पुरुषोंके लिये, तेरहवें अध्यायके ७वें श्लोकमें, सोलहवें अध्यायके ३रे और ७वें श्लोकोंमें तथा अठारहवें अध्यायके ४२वें श्लोकमें 'शौचम्' पद बाहर-भीतरकी पवित्रताके लिये आये हैं तथा सत्रहवें अध्यायके १४वें श्लोकमें 'शौचम्' पद शरीरकी शुद्धिके लिये आया है।

दक्षः=चतुर

जिसने करने योग्य कार्य कर लिया, वही दक्ष है। मानव-जीवनका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही है। इसीके लिये मनुष्य-शरीर मिला है। अतः जिसने अपना उद्देश्य प्राप्त कर लिया, वही वस्तुतः 'दक्ष' अर्थात् चतुर है।

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। २२)

'विवेकियोंके विवेक और चतुरोंकी चतुराईकी पराकाष्ठा इसीमें है कि वे इस विनाशी और असत्य शरीरके द्वारा मुझ अविनाशी एवं सत्य तत्त्वको प्राप्त कर लें।'

सांसारिक दक्षता अर्थात् चतुराई वास्तवमें चतुराई नहीं है। एक दृष्टिसे तो व्यवहारमें अधिक चतुराईका होना कलङ्क है; क्योंकि उसमें जड पदार्थोंका अधिक आदर होनेके कारण वह मनुष्यका पतन करनेवाली होती है।

अठारहवें अध्यायके ४३वें श्लोकमें 'दाक्ष्यम्' पद क्षत्रियके स्वाभाविक धर्मका बोधक है।

उदासीनः=पक्षपातसे रहित

उत्+आसीन अर्थात् ऊपर बैठा हुआ, तटस्थ रहनेवाला, पक्षपातसे रहित।

विवाद करनेवाले दो पुरुषोंके प्रति जिसका सर्वथा तटस्थ भाव है, उसे उदासीन कहा जाता है। यह पद निर्लिप्तताका द्योतक है। जैसे ऊँचे पहाड़पर खड़े हुए पुरुषपर नीचे पृथ्वीपर लगी हुई आगका तथा पृथ्वीपर आयी हुई बाढ़ आदिका कोई असर नहीं होता; वैसे ही किसी भी अवस्था, घटना, परिस्थिति आदिसे भक्त सदा अलिप्त रहता है।

भक्तका जो हित चाहता है, उसके अनुकूल बर्ताव करता है, वह उसका मित्र समझा जाता है एवं जो मनुष्य भक्तसे वैर-विरोध करता है, वह उसका शत्रु समझा जाता है। इस प्रकार शत्रु-मित्र समझे जानेवाले व्यक्तिके साथ भक्तके बर्तावमें बाहरसे अन्तर प्रतीत हो सकता है, किंतु भक्तके अन्तःकरणमें दोनोंके प्रति किंचित् भी भेदभाव नहीं होता, वह सर्वथा उदासीन अर्थात् अलिप्त रहता है।

चौदहवें अध्यायके २३वें श्लोकमें गुणातीतको 'उदासीन-वत्' इसलिये बतलाया गया है कि वहाँ अपने स्वरूपके सिवा और किसीकी सत्ता है ही नहीं, तब वह उदासीन किससे हो ? उसका वर्ताव अपने शत्रु-मित्र समझे जानेवाले व्यक्तिके प्रति उदासीनका-सा होता है। इसलिये उसे 'उदासीनवत्' कहा गया है।

भगवान्‌को भी नवें अध्यायके ९वें श्लोकमें जो उदासीन-वत्' कहा गया है, उसका भी तात्पर्य यही है कि भगवान्‌के सिवा दूसरा कोई है ही नहीं, तब वे उदासीन किससे होंगे ? इसलिये उन्हें 'उदासीनवत्' अर्थात् 'उदासीनकी तरह' कहा गया।

किंतु यहाँ भगवद्भक्तको 'उदासीनः' बतलाया गया है। इसका भाव यह है कि भक्तके अन्तःकरणमें अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह शरीरसहित संसारको परमात्माका मानता है। इसीलिये उसका व्यवहार उदासीन अर्थात् पक्षपातसे रहित होता है। अतः उसे 'उदासीनः' कहा गया।

छठे अध्यायके नवें श्लोकमें 'उदासीन' शब्दका प्रयोग इस बातको सूचित करनेके लिये किया गया है कि सिद्ध कर्मयोगीका उदासीन पुरुषमें समभाव रहता है।

गतव्यथः=और दुःखोंसे छूटा हुआ है,

जिसके चित्तमें व्यथा कभी होती ही नहीं—कुछ मिले या न मिले, कुछ भी आये या चला जाय, जिसके चित्तपर दुःख-चिन्तारूपी हलचल कभी होती ही नहीं, उस भक्तको यहाँ 'गतव्यथः' कहा गया है।

यहाँ 'व्यथा' पद केवल पीड़ा अथवा दुःखका वाचक ही नहीं है। सुखकी प्राप्ति होनेपर भी जो चित्तमें प्रसन्नताकी हलचल होती है, उसका नाम भी 'व्यथा' ही है। अतः सुख-दुःख दोनोंसे अन्तःकरणमें होनेवाली हलचलके अत्यन्ताभावको ही यहाँ 'गतव्यथः' पदसे व्यक्त किया गया है।

दूसरे अध्यायके १५वें श्लोकमें 'यं हि न व्यथयन्त्येते' पदोंसे साधकके व्यथित न होनेकी बात कही गयी है।

ग्यारहवें अध्यायके ३४वें श्लोकमें 'व्यथिष्ठाः' पद तथा ४९वें श्लोकमें 'व्यथा' पद भयके अर्थमें आये हैं।

चौदहवें अध्यायके २रे श्लोकमें 'व्यथन्ति' पदका प्रयोग यह बतलानेके लिये किया गया है कि सिद्ध पुरुषको जन्म-मरणरूपी व्यथा नहीं होती।

सः=वह

सर्वारम्भपरित्यागी=सभी आरम्भोंका त्यागी अर्थात् मन, वाणी और शरीरद्वारा प्रारब्धवश होनेवाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्यागी

सिद्ध भक्तका कुछ भी प्राप्तव्य या कर्तव्य न रहनेसे उसका क्रिया करनेसे कोई प्रयोजन नहीं रहता, किंतु कोई भी मनुष्य क्रियाओंका स्वरूपसे त्याग नहीं कर सकता (गीता ३ । ५ और १८ । ११)। भक्तके द्वारा भी शरीर-निर्वाह, भक्ति-प्रचार और पर-हित आदिके लिये क्रियाएँ तो होती हैं, पर भक्तकी यह विशेषता है कि (उसके) मन, वाणी और शरीरके द्वारा क्रियाएँ होते रहनेपर भी वह कर्तापनके अभिमानसे सर्वथा रहित होता है। उसमें राग-द्वेष, कर्तृत्वाभिमान एवं फलासक्तिका सर्वथा अभाव होता है और उसके द्वारा होती हुई दीखनेवाली क्रियाएँ शुद्ध एवं सुनिष्पन्न होती हैं।

भक्तके शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा अहंकार सर्वथा भगवदर्पित रहते हैं। उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता अथवा इच्छा नहीं रहती। वह एकमात्र भगवान्‌के हाथका यन्त्र बना रहता है। जैसे यन्त्रमें अपना कोई आग्रह नहीं होता—यन्त्री उसे जैसे भी चलाये, वह तो उसीपर सर्वथा निर्भर रहता है, उसी प्रकार भक्त भी भगवान् उससे जो कुछ कराते हैं, वही करता है—उसका अपना कोई आग्रह नहीं रहता।

वैसे तो सभी मनुष्योंको यन्त्रवत् भगवान् ही चलाते हैं (गीता १८।६१); किंतु मनुष्य अपने शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियोंमें अहंकार, आसक्ति, ममता रहनेसे अपनेको कर्मोंका कर्ता मान लेता है (गीता ३ । २७)। इसीलिये वह जन्म-मरणरूपी

दुःखको भोगता रहता है। भक्त कर्मोंको अपना नहीं मानता, सर्वथा भगवान्‌के द्वारा ही किये हुए मानता है; इसलिये उसके द्वारा क्रियाएँ होती हुई दीखनेपर भी वास्तवमें नहीं होतीं, उसके कर्म अकर्म ही होते हैं।

एक स्थितिमें क्रिया की जाती है, एक स्थितिमें क्रिया होती है और एक स्थितिमें सत्तामात्र रहती है—क्रियाका सर्वथा अभाव होता है। साधारण मनुष्योंका जडताके साथ विशेष सम्बन्ध रहनेसे उनके द्वारा क्रिया की जाती है। साधकका जडताके साथ स्वल्पमात्र सम्बन्ध रहनेसे उसके द्वारा क्रिया होती है। इस स्थितिमें भी, यह माननेपर भी कि भगवत्कृपासे ही साधन हो रहा है, क्रियाएँ हो रही हैं, साधकका साधन तेजीसे बढ़ेगा। पर जहाँ जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद है, वहाँ सत्तामात्र है, अर्थात् तत्त्वज्ञानीकी स्वरूपमें स्थिति होती है और सिद्ध भक्तकी भगवान्‌में तल्लीनता। वहाँ क्रिया करे कौन? वहाँ तो स्थितिमात्र है।

मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानके त्यागकी बात गीतामें निम्नाङ्कित स्थलोंपर इस प्रकार आयी है—

ज्ञानयोगी मानता है कि क्रिया होती है प्रकृति और प्रकृतिके कार्योंद्वारा। तीसरे अध्यायके २८वें श्लोकमें 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (इन्द्रियरूप गुणकार्योंका विषयरूप गुणकार्योंमें

व्यापार हो रहा है)—इन पदोंसे, पाँचवें अध्यायके ९वें श्लोकमें 'इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते' (इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं)—इस वाक्यसे तथा १३वें श्लोकमें 'नैव कुर्वन्न कारयन्' (आत्मा न तो कुछ करता है और न कुछ कराता है)—इन पदोंसे तथा १४वें श्लोकमें 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' (स्वभाव अर्थात् प्रकृति ही बरतती है) कहकर, तेरहवें अध्यायके २९वें श्लोकमें 'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः' (कर्म सब-के-सब प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते हैं)—इन पदोंसे और अठारहवें अध्यायके १४वें एवं १५वें श्लोकोंमें कर्मोंके होनेमें पाँच हेतु बताकर इसी बातकी ओर संकेत किया गया है।

भक्तियोगी स्वयं भगवान्‌के समर्पित होकर क्रियाओंको भगवान्‌के अर्पण कर देता है—जैसा कि तीसरे अध्यायके ३०वें श्लोकमें 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा' तथा पाँचवें अध्यायके १०वें श्लोकमें 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः' पदोंद्वारा कहा गया है।

कर्मयोगी सम्पूर्ण क्रियाओंको संसारकी सेवामें लगाता है—यहाँतक कि 'अहं' अर्थात् 'मैं'पनको भी संसारकी सेवामें लगा देता है। सुतरां उसमें भी कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता—जैसा कि चौथे अध्यायके १९वें श्लोकमें 'यस्य सर्वे समारम्भाः काम-संकल्पवर्जिताः' पदोंमें कहा गया है।

तत्त्वज्ञानीकी शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धिरूपी व्यष्टि प्रकृति अहंकार और ममत्वसे रहित होनेके कारण समष्टि प्रकृतिमें मिल जाती है। उसके अन्तःकरणमें पूर्वार्जित प्रारब्धके संस्कार रहते हैं और उसीके अनुसार उसके बुद्धि-मन-इन्द्रियोंद्वारा प्रारब्धभोग और लोक-संग्रहके लिये कर्तापनके बिना ही क्रियाएँ हुआ करती हैं। इसलिये उसे भी चौदहवें अध्यायके २५वें श्लोकमें 'सर्वारम्भ-परित्यागी' कहा गया है।

ज्ञानीद्वारा कर्म होनेमें हेतु

ज्ञानी कर्म करता नहीं, उससे क्रिया या चेष्टामात्र होती है। इसके तीन हेतु हैं। पहला हेतु है—प्रारब्ध। प्रारब्धके वेगसे उसके शरीरद्वारा क्रिया होती रहती है—व्यवहार चलता रहता है। अहंभावसे शून्य होनेके कारण वह किसी क्रियाका कर्ता होता ही नहीं। दूसरा कारण है—जगत्में जब जैसी धर्म-स्थापन अथवा अधर्म-निवारणकी आवश्यकता उत्पन्न होती है, तदनुसार भगवान् स्वयं प्रेरणा देकर उससे वैसा कर्म करवा लेते हैं; अवश्य ही वे सब कर्म लोक-हितके होते हैं। जैसे भगवान् बुद्धने बढ़ी हुई हिंसाको मिटानेका कार्य किया और भगवान् शङ्कराचार्यने नास्तिकताके निवारणका सत्प्रयास किया। तीसरा कारण है—किसी व्यक्तिविशेषका कोई जिज्ञासा लेकर सेवामें उपस्थित होना। उस व्यक्तिविशेषके कारण ज्ञानी महापुरुषके हृदयमें कुछ बातें स्फुरित होती हैं

और उससे उचित समाधानकी चेष्टा हो जाती है। क्रियाके फल हैं—सुख-दुःखादि। वे ज्ञानीकी क्रियामें नहीं होते। उनकी क्रिया सहजभावसे निष्काम ही होती है; अतः उसे विशुद्ध चेष्टामात्र कह सकते हैं।

समष्टि प्रकृति ही परमात्माकी अध्यक्षतासे सारे संसारका संचालन करती है (गीता ९। १०)। मनुष्य मन, बुद्धि, इन्द्रिय एवं शरीररूपी प्रकृतिके कार्योंको अपना मान लेता है, इसीलिये क्रियाओंका कर्ता स्वयं बन जाता है। यद्यपि क्रियाएँ तो सभी समष्टि प्रकृतिके द्वारा ही हो रही हैं, तथापि भूलसे वह स्वयं कर्ता बन जाता है। भक्त अपने कहे जानेवाले शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियोंको सर्वथा भगवान्‌के ही मानता है, एकमात्र प्रभुको ही अपना मानता है। अतः समष्टि प्रकृतिरूप जो परमात्माकी शक्ति संसारका कार्य चलाती है, उसी समष्टि प्रकृतिसे भक्तके अपने कहे जानेवाले मन-बुद्धि-इन्द्रिय-शरीरके द्वारा क्रियाएँ होती हैं; अर्थात् भक्तके कार्य भगवान्‌के द्वारा ही संचालित होते हैं। इसीलिये भक्तको 'सर्वारम्भपरित्यागी' कहा गया है।

वास्तवमें राग-द्वेषादि दोष न तो प्रकृतिमें हैं और न पुरुष अर्थात् चेतनमें। चेतनका जडके साथ सम्बन्ध मान लेनेसे ही दोष प्रारम्भ होते हैं। प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध मानने-से ही साधारण मनुष्योंको अपने लिये सांसारिक पदार्थोंकी

आवश्यकता प्रतीत होती है, उन पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये कर्म करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है और फिर वे कर्म करना आरम्भ कर देते हैं। प्रकृतिके साथ सम्बन्ध मानना ही क्रियाओंके आरम्भका मूल हेतु है। भक्तका एकमात्र भगवान्‌के साथ सम्बन्ध रहनेसे उसमें कार्योंका आरम्भ करनेके मूल हेतुका ही अत्यन्त अभाव रहता है। इसलिये भक्त 'सर्वारम्भपरित्यागी' होता है।

चौथे अध्यायके १९वें श्लोकमें 'समारम्भाः' तथा अठारहवें अध्यायके ४८वें श्लोकमें 'सर्वारम्भाः' पद शास्त्रविहित कर्मोंके वाचक हैं।

मद्भक्तः = मेरा भक्त, मेरा प्रेमी

भगवान्‌में स्वाभाविक ही इतना महान् आकर्षण है कि भक्त स्वतः भगवान्‌की ओर खिंच जाता है।

> आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
> कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
> (श्रीमद्भा० १। ७। १०)

'जो लोग ज्ञानी हैं, जिनकी अविद्याकी गाँठ खुल गयी है और जो सदा आत्मामें ही रमण करनेवाले हैं, वे भी भगवान्‌की हेतुरहित भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे मधुर हैं जो लोगोंको अपनी ओर खींच लेते हैं।'

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि भगवान्में इतना आकर्षण है तो सभी मनुष्य भगवान्की ओर क्यों नहीं खिंच जाते और भगवान्के प्रेमी क्यों नहीं हो जाते, भक्त ही भगवान्का प्रेमी क्यों होता है।

सच्ची बात यह है कि जीव भगवान्का ही अंश है, अतः उसका भगवान्के प्रति स्वतः ही आकर्षण होता है; किंतु जो भगवान् अपने हैं, उन्हें तो उसने अपने माना नहीं और जो मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ-शरीरादि अपने हैं नहीं, उन्हें अपने मान लिया। इसीलिये वह शारीरिक निर्वाह और सुखके लिये सांसारिक भोगोंमें आकृष्ट हो गया और इसीलिये उसकी परमात्मतत्त्वसे विमुखता हो गयी। पर वास्तवमें विमुखता भी हुई नहीं; नाशवान्, क्षणभङ्गुर भोगोंकी ओर आकर्षण होनेसे उसकी परमात्मासे विमुखता दीखनेपर भी वह उनसे दूर नहीं है। जब इन नाशवान् भोगोंकी ओरसे उसका आकर्षण हट जाता है, तब वह स्वतः ही भगवान्की ओर खिंच जाता है। भक्तको संसारमें किंचिन्मात्र भी आसक्ति न रहनेसे उसका भगवान्में अटल प्रेम स्वतः हो जाता है। ऐसे अनन्यप्रेमीको भगवान् 'मद्भक्तः' कहकर अपना प्रेमी बतलाते हैं।

मे = मुझे
प्रियः = प्रिय है।

जिसकी भगवान्‌के स्वरूपमें अटल स्थिति है तथा जिसका भगवान्‌से वियोग कभी होता ही नहीं, वह भक्त भगवान्‌को प्यारा है।

सम्बन्ध

सिद्ध भक्तके पाँच लक्षणोंवाला चौथा प्रकरण—

श्लोक

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७॥

भावार्थ

भगवद्भक्तके अन्तःकरणमें किसी भी प्रिय और अप्रिय प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थितिके संयोग-वियोगमें किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष, हर्ष-शोक नहीं होते। रागरहित होनेसे अशुभ (पापमयी) क्रियाएँ होतीं नहीं, केवल शुभ (शास्त्रविहित, धर्मयुक्त, न्याययुक्त) क्रियाएँ ही होती हैं; परंतु ममता, आसक्ति, फलेच्छाका त्याग रहनेसे शुभ कर्म होते हुए भी उसका उनसे सम्बन्ध नहीं रहता, अतः उनकी कर्मसंज्ञा ही नहीं रहती (गीता ४। २०)। इस प्रकार अशुभ क्रियाओंका स्वरूपसे त्यागी एवं शुभ क्रियाओंसे सर्वथा निर्लिप्त रहनेसे भक्तको 'शुभाशुभपरित्यागी' कहा गया है। भगवान्‌का ऐसा प्रेमी भक्त भगवान्‌को अत्यधिक प्यारा होता है।

अन्वय

यः न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति यः शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् सः मे प्रियः ॥ १७ ॥

यः न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति=जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है

चार ही मुख्य विकार हैं—१–राग २–द्वेष, ३–हर्ष और ४–शोक*। सिद्ध भगवद्भक्तका भगवान्‌से कभी वियोग होता ही नहीं। जिसके साथ वियोग अवश्यम्भावी है, उस संसारसे वियोग तो होता ही रहता है, उससे संयोग रह सकता ही नहीं, क्योंकि संसार सदा एकरस रहता नहीं। इन दोनों बातोंका प्रत्यक्ष अनुभव होनेपर न राग होता है न द्वेष, न हर्ष होता है न शोक।

परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार होनेपर ये विकार सर्वथा मिट जाते हैं। साधनावस्थामें भी साधक ज्यों-ज्यों साधन करेगा, त्यों-ही-त्यों ये विकार कम होते चले जायँगे। विकार कम होनेसे साधन और भी तेजीके साथ होगा। जब साधनावस्थामें भी विकारोंमें कमी पड़ती जाती है, तब सहज ही यह अनुमान

* प्रचलित भाषामें किसीके मर जानेपर 'शोक' शब्दका प्रयोग किया जाता है; किंतु यहाँ 'शोक' शब्दसे तात्पर्य अन्तःकरणके दुःखरूपी विकारसे है।

लगाया जा सकता है कि सिद्धावस्थामें ये विकार सर्वथा नहीं रहते ।

राग-द्वेषके कारण ही परिणाममें वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदिके संयोग-वियोगसे एवं संयोग-वियोगके होनेकी आशङ्कासे हर्ष-शोक होते हैं । अतः राग-द्वेष ही विकारोंके कारण हैं और इन्हींसे जीव संसारमें बँधता है (गीता ७ । २७) । अतएव गीतामें स्थान-स्थानपर राग-द्वेषको त्यागनेके लिये कहा गया है—जैसे तीसरे अध्यायके ३४वें श्लोकमें 'तयोर्न वशमागच्छेत्' पदोंसे राग-द्वेषके वशमें न होनेके लिये और अठारहवें अध्यायके ५१वें श्लोकमें 'रागद्वेषौ व्युदस्य च' पदोंसे राग-द्वेषके त्यागके लिये कहा गया है । ऐसे ही गीतामें और भी अनेक जगह राग-द्वेषके त्यागके लिये कहा गया है ।

राग-द्वेषसे ही परिणाममें हर्ष-शोक होते हैं । जिसके प्रति हमारा राग होता है, उसके संयोगसे और जिसके प्रति हमारा द्वेष है, उसके वियोगमें हर्ष होगा; इसके विपरीत जिसमें हमारा राग है, उसके अभावसे या अभावकी आशङ्कासे और जिसके प्रति हमारी द्वेषबुद्धि है, उसके संयोगसे और संयोगकी आशङ्कासे दुःख होगा । 'दुःख'में शोकका अन्तर्भाव है । सिद्ध भक्तमें राग-द्वेषका अत्यन्ताभाव होनेसे एक साम्यावस्था

स्वतः ही निरन्तर रहती है। इसलिये वह विकारोंसे सर्वथा रहित होता है।

जैसे रात्रिके समय अन्धकारमें दीपककी कामना होती है, दीपक जलानेसे हर्ष होता है तथा दीपक बुझानेवालेके प्रति क्रोध होता है। अँधेरा होनेसे दीपक पुनः प्रज्वलित कैसे हो—ऐसी दुःख-चिन्ता होती है। रात्रि होनेसे ये चारों बातें होती हैं, परंतु यदि मध्याह्नका सूर्य तपता हो तो 'कोई दीपक जला दे'—ऐसी इच्छा ही नहीं होती, दीपक जलानेसे हर्ष नहीं होता, दीपक बुझानेवालेके प्रति द्वेष अथवा क्रोध भी नहीं होता और अँधेरा तो है ही नहीं, इसलिये प्रकाशके अभावकी दुःख-चिन्ता भी नहीं होती।

इसी प्रकार परमात्मतत्त्वके विमुख होनेसे और संसारके सम्मुख होनेसे शरीर-निर्वाहके पदार्थ और अनुकूलता कैसे मिले, इसकी संसारी लोग इच्छा करते हैं, इनके मिलनेपर हर्षित होते हैं, इनकी प्राप्तिमें कोई बाधा पहुँचाता है तो उसके प्रति क्रोध और द्वेष करते हैं और न मिलनेपर कैसे मिले—यों दुःख-चिन्ता करते हैं। परंतु मध्याह्नके सूर्यकी तरह जिसे भगवत्प्राप्ति हो गयी, उसमें ये विकार कैसे रहेंगे? क्योंकि वह पूर्णकाम हो गया, कोई सांसारिक आवश्यकता उसे रही नहीं (गीता २। ७०), इसलिये वह इन विकारोंसे सर्वथा रहित होता है।

दूसरे अध्यायके ५७वें श्लोकमें 'नाभिनन्दति न द्वेष्टि' पद तथा पाँचवें अध्यायके २०वें श्लोकमें 'न प्रहृष्येत्, नोद्विजेत्' पद, चौदहवें अध्यायके २२वें श्लोकमें 'न द्वेष्टि, न काङ्क्षति' पद तथा अठारहवें अध्यायके १०वें श्लोकमें 'न द्वेष्टि, नानुषज्जते' पद सिद्ध भक्तमें राग-द्वेषका अत्यन्ताभाव बतलानेके लिये प्रयुक्त हुए हैं।

पाँचवें अध्यायके ३रे श्लोकमें 'न द्वेष्टि न काङ्क्षति' पद कर्मयोगीमें राग-द्वेषका अभाव दिखलानेके लिये प्रयुक्त हुए हैं।

अठारहवें अध्यायके ५४वें श्लोकमें 'न शोचति न काङ्क्षति' पद ज्ञानयोगके साधकमें राग-द्वेषका अभाव दिखलानेके लिये प्रयुक्त हुए हैं।

यः=जो

शुभाशुभपरित्यागी = शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्यागी है;

भक्त शुभ कर्म करता है, किंतु कामना-आसक्तिपूर्वक नहीं। फलकी कामना और आसक्ति न होनेसे उसके कर्म कर्म ही नहीं होते (गीता ४ । २०)। इसलिये वह शुभ कर्मका त्यागी है। राग-द्वेषका सर्वथा अभाव होनेके कारण उससे अशुभ कर्म बनते ही नहीं; क्योंकि अशुभ कर्मके होनेमें कामना-आसक्ति ही प्रधान कारण है (गीता ३ । ३७), जिसका भक्तमें

अत्यन्ताभाव होता है। अतः अशुभ कर्मोंका उसके द्वारा स्वतः त्याग होनेसे वह अशुभका भी त्यागी कहा गया है।

'शुभ' और 'अशुभ' कुशल और अकुशल कर्मोंके भी बोधक हैं। कुशल कर्म मुक्ति देनेवाले और अकुशल कर्म बाँधनेवाले होते हैं। परंतु भक्त कुशल कर्मोंसे राग नहीं करता और अकुशलके प्रति द्वेष नहीं करता अर्थात् उसके द्वारा कुशल कर्मोंका सम्पादन और अकुशल कर्मोंका त्याग शास्त्रके आज्ञानुसार होता है, राग-द्वेषपूर्वक नहीं (गीता १८। १०)। राग-द्वेषको त्यागनेवाला ही सच्चा त्यागी है। मनुष्यको बाँधनेवाले कर्म नहीं होते, कर्मोंमें राग-द्वेप ही मनुष्यको बाँधते हैं। भक्तके द्वारा राग-द्वेपरहित कर्म होते हैं, इसलिये वह शुभाशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका परित्यागी है।

भक्तके द्वारा होनेवाली क्रियाएँ भगवदर्पित होती हैं। उसमें अपने कर्तृत्वका अभिमान नहीं रहता। इसलिये वह कर्मोंसे सर्वथा अलिप्त रहता है। यहाँ 'शुभाशुभपरित्यागी' पदसे भक्तकी कर्मोंके साथ निर्लेपताका बोध कराया गया है।

दूसरे अध्यायके ५०वें श्लोकमें 'सुकृतदुष्कृते' पद पाप-पुण्यके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है; तथा ५७वें श्लोकमें 'शुभाशुभम्' पद अनुकूलता-प्रतिकूलताके लिये आया है; पाँचवें अध्यायके २०वें श्लोकमें 'प्रियम्, अप्रियम्' पद अनुकूल-प्रतिकूल

पदार्थोंके लिये आये हैं; नवें अध्यायके २८वें श्लोकमें 'शुभाशुभफलैः' पद शुभ-अशुभ फलोंके लिये प्रयुक्त हुआ है; तेरहवें अध्यायके ९वें श्लोकमें 'इष्टानिष्ट' शब्द तथा चौदहवें अध्यायके २४वें श्लोकमें 'प्रियाप्रिय' शब्द अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थोंके लिये प्रयुक्त हुआ है; अठारहवें अध्यायके १०वें श्लोकमें 'अकुशलम्' एवं 'कुशले' पद बाँधनेवाले और मुक्ति देनेवाले कर्मोंके लिये प्रयुक्त हुए है और १२वें श्लोकमें 'इष्टम् अनिष्टम् फलम्' पद पुण्य-पापरूप कर्मोंके अच्छे-बुरे फलके लिये प्रयुक्त हुए हैं।

सः=वह
भक्तिमान्=भक्तियुक्त पुरुष

भक्तकी भगवान्‌में अत्यधिक प्रियता रहती है, उसके द्वारा स्वाभाविक ही भगवान्‌का चिन्तन-स्मरण एवं भजन होता रहता है, वह सबको भगवत्स्वरूप समझकर सबकी सेवा करता है। ऐसे लक्षणोंवाला भक्त 'भक्तिमान्' है।

इसी अध्यायके १९वें श्लोकमें 'भक्तिमान्' पद इसी भावमें प्रयुक्त हुआ है।

मे प्रियः=मेरा प्यारा है।

भक्तका भगवान्‌में अनन्यप्रेम होता है, इसलिये वह भगवान्‌का प्यारा होता है।

सम्बन्ध

दो श्लोकोंमें सिद्ध भक्तके दस लक्षणोंवाला पाँचवाँ प्रकरण—

श्लोक

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९॥

भावार्थ

भगवद्भक्तके अन्तःकरणमें प्रभुके प्रति अनन्य प्रेम होनेसे तथा प्रेमके निरन्तर बढ़ते रहनेसे उसके साथ अनुकूलता-प्रतिकूलताका बर्ताव करनेवालोंके प्रति उसके अन्तःकरणमें विकारका कोई कारण ही नहीं रहता। वह शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख(अनुकूलता-प्रतिकूलता), निन्दा-स्तुतिमें सदा-सर्वदा सम होता है। उसका परमात्माके सिवा और किसी जगह राग नहीं रहता। राग न रहनेसे किसीके प्रति द्वेष होनेकी गुंजाइश ही नहीं रहती। उसके द्वारा परमात्माके स्वरूपका स्वतः मनन होता रहता है। जो भी परिस्थिति प्राप्त होती है, उसीमें उसे महान् आनन्दका अनुभव होता है। रहनेके स्थानमें और शरीरमें भी उसे अपनेपनका अनुभव नहीं होता तथा उसकी बुद्धि

निश्चलभावसे परमात्मामें स्थिर रहती है। ऐसा भगवान्‌का भक्त भगवान्‌को प्यारा है।

इन श्लोकोंमें भक्तका सदा, सर्वदा, सर्वथा समभाव रहनेका वर्णन हुआ है। शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख और निन्दा-स्तुति—इन पाँचोंमें समता होनेसे साधक सर्वथा समभावमें स्थित हो सकता है; इनमें सम न रहनेपर अन्यत्र सम होनेपर भी वह सर्वथा सम नहीं हो सकता।

अन्वय

शत्रौ च मित्रे तथा मानापमानयोः समः शीतोष्णसुखदुःखेषु च समः सङ्गविवर्जितः तुल्यनिन्दास्तुतिः मौनी येन केनचित् संतुष्टः अनिकेतः स्थिरमतिः भक्तिमान् नरः मे प्रियः ॥ १८-१९ ॥

शत्रौ च मित्रे (समः)=जो शत्रु और मित्रमें सम

यहाँ भगवान्‌ने भक्तमें व्यक्तियोंके प्रति रहनेवाली समताका वर्णन किया है। सिद्ध भक्तकी सर्वत्र भगवद्बुद्धि होनेके कारण उसका किसीके प्रति भी शत्रु-मित्रका भाव नहीं रहता। उसका बर्ताव लोगोंके स्वभावके अनुकूल पड़नेसे लोग उसके प्रति मित्रभाव और प्रतिकूल पड़नेसे शत्रुभाव कर लेते हैं। साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या, सावधान रहनेवाले साधकोंका भी उस सिद्ध भक्तके प्रति मित्रता और शत्रुताका भाव हो जाता है। पर भक्त सर्वथा सम रहता है। उसमें किसीके प्रति शत्रु-मित्रका भाव नहीं होता। वहाँ तो अखण्ड समता रहती है।

अतः भक्तके द्वारा कभी किसीका अहित नहीं हो सकता। उसके प्रति शत्रु-मित्रका भाव दूसरोंका बनाया हुआ होता है। भक्तका भगवान्‌में स्वाभाविक प्रेम होनेके कारण भगवान्‌की ओर रुचि रखनेवालोंके प्रति उसका प्रेमयुक्त बर्ताव और भगवान्‌में रुचि न रखनेवालोंके प्रति उदासीनताका बर्ताव हो सकता है। 'शत्रौ मित्रे च समः' पदोंसे यह सिद्ध होता है कि भक्तके साथ भी लोग शत्रुता-मित्रताका बर्ताव करते हैं और उसके व्यवहारसे अपनेको उसका शत्रु-मित्र मानते हैं। इसीलिये उसे यहाँ शत्रु-मित्रसे रहित न कहकर 'शत्रु-मित्रमें सम' कहा गया।

सिद्ध कर्मयोगीकी छठे अध्यायके ९वें श्लोकमें 'सुहृद्', 'द्वेष्य' तथा 'मित्र'-'अरि'में 'सम बुद्धि' कही गयी है।

चौदहवें अध्यायके २५वें श्लोकमें 'तुल्यो मित्रारिपक्षयोः' पद गुणातीत पुरुषके शत्रु-मित्रमें समभावके द्योतक हैं।

तथा=और

मानापमानयोः समः=मान-अपमानमें सम,

मान-अपमान परकृत क्रिया है। भक्तका शरीरमें न तो अभिमान होता है न आसक्ति ही। इसलिये शरीरका मान-अपमान होनेपर भी भक्तके मनमें कोई विकार नहीं होता। मानापमानके विकारसे रहित होनेपर स्वतः रहनेवाली स्थितिका नाम 'समता' है।

छठे अध्यायके ७वें श्लोकमें 'मानापमानयोः प्रशान्तस्य' पद सिद्ध कर्मयोगीकी तथा चौदहवें अध्यायके २५वें श्लोकमें 'मानापमानयोस्तुल्यः' पद गुणातीत पुरुषकी समताके बोधक हैं।

च=तथा

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः=सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम

ऋतुको लेकर स्वाभाविक ही जीवमात्रको अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान होता है। त्वचाके सम्बन्धसे उस अनुकूलता-प्रतिकूलताका अनुभव होनेपर भी सिद्ध भक्तको हर्ष-शोक नहीं होते। अतः वह सम रहता है।

गीतामें 'शीतोष्ण' पद जहाँ भी आये हैं, 'सुख-दुःख' पदोंके साथ ही आये हैं। जैसे दूसरे अध्यायके १४वें श्लोकमें शीतोष्णसुखदुःखदाः' पद तथा छठे अध्यायके ७वें श्लोकमें और यहाँ (बारहवें अध्यायमें) भी 'शीतोष्णसुखदुःखेषु' पदोंका प्रयोग हुआ है। अतः ये पद सर्दी-गर्मीसे होनेवाले सुख-दुःखसे अन्तःकरणमें जो शान्ति और परिताप (जलन) होते हैं—उन्हींकी ओर लक्ष्य कराते हैं।

शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके अनुकूल-प्रतिकूल घटना, पदार्थ, परिस्थिति आदिकी प्राप्ति होनेपर उनका ठीक-ठीक ज्ञान होते हुए भी सिद्ध भक्तके अन्तःकरणमें राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि किसी

तरहका किंचिन्मात्र भी विकार कभी नहीं होता। वह सदा सम रहता है। इसलिये उसे 'सुख-दुःखमें सम' कहा गया है।

दूसरे अध्यायके १५वें श्लोकमें 'समदुःखसुखम्' पदसे तथा ३८वें श्लोकमें 'सुखदुःखे समे' पदोंसे साधकको सुख-दुःखकी परिस्थितिमें सम रहनेके लिये कहा गया है।

इसी प्रकार पंद्रहवें अध्यायके ५वें श्लोकमें 'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः' पदोंसे साधक भक्तको सुख-दुःखमें सम रहनेके लिये कहा गया है।

दूसरे अध्यायके ५६वें श्लोकमें 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः' एवं छठे अध्यायके ७वें श्लोकमें 'शीतोष्ण-सुखदुःखेषु प्रशान्तस्य' पदोंके द्वारा सिद्ध कर्मयोगीकी तथा चौदहवें अध्यायके २४वें श्लोकमें 'समदुःखसुखः' पदसे गुणातीत पुरुषकी सुख-दुःखमें समता बतायी गयी है। छठे अध्यायके ३२वें श्लोकमें 'सुखं वा यदि वा दुःखं सं पश्यति' पदोंसे सिद्ध पुरुषकी सुख-दुःखमें समताका निर्देश किया गया है।

सङ्गविवर्जितः=तथा आसक्तिसे रहित है,

'सङ्ग' पदका अर्थ स्वरूपसे संयोग तथा आसक्ति, दोनों ही होते हैं।

मनुष्यमात्रके लिये यह सम्भव नहीं है कि वह स्वरूपसे सब पदार्थोंका सङ्ग छोड़ सके; क्योंकि जबतक मनुष्य जीवित

रहेगा, शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ तो उसके साथ रहेंगी ही। थोड़ी देरके लिये मान लें, किसीने स्वरूपसे पदार्थोंका सङ्ग छोड़ भी दिया, पर यदि अन्तःकरणमें उनके प्रति आसक्ति बनी हुई है तो प्राणी-पदार्थोंके दूर होते हुए भी उसका सम्बन्ध तो उनसे बना ही हुआ है। दूसरी ओर, यदि अन्तःकरणमें आसक्ति नहीं है तो पासमें रहनेवाले प्राणी-पदार्थ भी बाँधनेवाले नहीं होते। अतः मनुष्यको संसारमें बाँधनेवाली सांसारिक आसक्ति ही है न कि सांसारिक प्राणी-पदार्थोंका स्वरूपसे संयोग।

आसक्तिको मिटानेमें असमर्थ होनेपर यदि उस (आसक्ति) को मिटानेके लिये पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद किया जाय तो यह भी एक साधन हो सकता है; किंतु मूल आवश्यकता आसक्तिसे सर्वथा रहित होनेकी है। संसारके प्रति किंचिन्मात्र भी आसक्ति उसका चिन्तन करा सकती है एवं साधकको क्रमशः कामना, क्रोध और मूढ़ता आदिको प्राप्त कराके उसे पतनके गड्ढेमें गिरानेका हेतु बन सकती है (गीता २। ६२-६३)। भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके ५९वें श्लोकमें 'परं दृष्ट्वा निवर्तते' पदोंसे भगवत्-साक्षात्कारके बाद इस आसक्तिकी सर्वथा निवृत्ति बतलायी है। भगवत्प्राप्तिवाले पुरुषमें तो आसक्तिका अत्यन्ताभाव है ही, किंतु यह नियम नहीं कि आसक्तिका सर्वथा अभाव भगवत्प्राप्तिके पहले होता ही नहीं। साधकमें भी आसक्तिका सर्वथा अभाव होकर तत्काल भगवत्प्राप्ति हो सकती है (गीता १६।

२२); क्योंकि आसक्तिरहित साधकको भी अक्षय सुखकी प्राप्ति बतलायी गयी है (गीता ५ । २१) । इसलिये यहाँ इस पदमें भक्तको आसक्तिसे सर्वथा रहित कहा गया है ।

सिद्ध भक्तका भगवान्‌में अटल प्रेम होता है । अतः उसकी अन्य जगह आसक्ति नहीं रहती । गोपियाँ कहती हैं—

'नाहिंन रह्यो हिय में ठौर ।
नंदनंदन अछत कैसें आनिऐ उर और ॥'

भगवान्‌में अविचल प्रेम न होनेपर ही दूसरी जगह आसक्ति होती है । सिद्ध भक्तमें भगवत्प्रेम सदा जाग्रत् होनेसे उसकी अन्यत्र आसक्ति कैसे रह सकती है !

अतः 'सङ्गविवर्जितः' पदसे 'आसक्तिसे सर्वथा शून्य' अर्थ लेना ही उपयुक्त है ।

आसक्ति न तो परमात्माके अंश शुद्ध चेतनमें रहती है और न प्रकृतिके पदार्थोंमें । वह रहती है—प्रकृति और चेतनके सम्बन्धकी मान्यतामें, अर्थात् जहाँ 'मैं'की स्फुरणा होती है, वहाँ संसारके साथ सम्बन्ध माननेके कारण आसक्ति रहती है । वही आसक्ति बुद्धि, मन, इन्द्रियों और पदार्थोंमें प्रतीत होती है । दूसरे अध्यायके ५९वें श्लोकमें अपने अंदर ('मैं'में) रहनेवाली इस आसक्तिको 'अस्य रसः' पदोंसे एवं तीसरे अध्यायके ४०वें श्लोकमें इन्द्रिय, मन, बुद्धिको

कामका वासस्थान बतलाकर उस आसक्तिका निवास इन्द्रिय, मन, बुद्धिमें बताया गया है; क्योंकि काम आसक्तिका ही कार्य है। जहाँ कार्य रहता है, वहाँ उसका कारण भी है ही। इसी प्रकार तीसरे अध्यायके ३४वें श्लोकमें भी 'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ' पदोंसे इन्द्रियोंकी उनके विषयोंमें आसक्ति बतायी गयी है।

यदि साधककी 'मैं'की मान्यतामें रहनेवाली आसक्ति मिट जाय तो और जगह प्रतीत होनेवाली आसक्ति स्वतः मिट जायगी। स्वयं साधकमें विवेक पूरी तरह जाग्रत् न होनेसे आसक्ति रहती है, अतः आसक्तिका कारण अविवेक है। भक्तमें अविवेक रहता नहीं। इसलिये वह आसक्तिसे सर्वथा रहित है, अर्थात् उसकी एक परमात्माके सिवा अन्य किसीमें भी आसक्ति नहीं रहती।

एकमात्र परमात्मामें राग (आसक्ति) रहनेसे भक्तका संसारसे द्वेष नहीं होगा; क्योंकि उसकी दृष्टिमें परमात्माके सिवा दूसरा कोई प्रेमास्पद है ही नहीं। किंतु जिसका परमात्माके सिवा अन्यत्र संसारमें कहीं भी राग है तो विजातीय (परमात्मा) -से तो उतने अंशमें द्वेष है ही, सजातीय (सांसारिक) पदार्थमें भी द्वेष हो सकता है।

साधकके लिये एक विशेष ध्यान देनेकी बात यह है कि संसारमें राग-द्वेष करनेसे ही संसारके साथ 'मैं'पन दृढ़ होता

है एवं संसारके प्रति राग-द्वेपरहित होनेसे 'मैं'पनका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ स्वतः शेप रह जाता है।

गीतामें स्थान-स्थानपर भगवान्‌ने साधकको आसक्ति हटानेकी बात कही है। जैसे तीसरे अध्यायके ७वें तथा १९वें श्लोकमें 'असक्तः' पदसे, ग्यारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें 'सङ्गवर्जितः' पदसे तथा पंद्रहवें अध्यायके ३रे श्लोकमें 'असङ्गशस्त्रेण' पदसे आसक्ति हटानेकी बात कही गयी है।

अठारहवें अध्यायके २३वें श्लोकमें 'सङ्गरहितम्' पद 'अहंकारसे रहित'के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

तीसरे अध्यायके ९वें श्लोकमें 'मुक्तसङ्गः' पदसे, पाँचवें अध्यायके २१वें श्लोकमें 'असक्तात्मा' पदसे, आठवें अध्यायके ११वें श्लोकमें 'वीतरागाः' पदसे, तेरहवें अध्यायके ९वें श्लोकमें 'असक्तिः' पदसे, अठारहवें अध्यायके ६ठे तथा ९वें श्लोकोंमें 'सङ्गं त्यक्त्वा' पदोंसे, २६वें श्लोकमें 'मुक्तसङ्गः' पदसे, ४९वें श्लोकमें 'असक्तबुद्धिः' पदसे साधकको आसक्तिशून्य होनेको कहा गया है।

सिद्ध भक्त आसक्तिरहित होता है, इस बातको बतानेके लिये दूसरे अध्यायके ५६वें श्लोकमें 'वीतरागभयक्रोधः' पद (जिसमें भय और क्रोधके साथ-साथ रागका भी सर्वथा अभाव

कहा गया है), ५७वें श्लोकमें 'अनभिस्नेहः' पद, तीसरे अध्यायके २५वें श्लोकमें 'असक्तः' पद, चौथे अध्यायके १०वें श्लोकमें 'वीतरागभयक्रोधाः' पद, २३वें श्लोकमें 'गतसङ्गस्य' पद और पंद्रहवें अध्यायके ५वें श्लोकमें 'जितसङ्गदोषाः' पद प्रयुक्त हुए हैं।

भगवान् अथवा ब्रह्मको आसक्तिरहित बतानेके लिये नवें अध्यायके ९वें श्लोकमें तथा तेरहवें अध्यायके १४वें श्लोकमें 'असक्तम्' पदका प्रयोग हुआ है।

तुल्यनिन्दास्तुतिः=निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला,

निन्दा-स्तुति मुख्यतासे नामकी होती है। यह परकृत क्रिया है। लोग अपने स्वभावके अनुसार भक्तकी निन्दा-स्तुति किया करते हैं। भगवान्‌के भक्तमें अपने कहे जानेवाले नाम और शरीरमें लेशमात्र भी अभिमान और ममता नहीं रहते। इसलिये निन्दा-स्तुतिका उसके चित्तपर तनिक भी असर नहीं होता, उसकी अपनी निन्दा करनेवालेके प्रति द्वेष-बुद्धि और स्तुति करनेवालेके प्रति राग-बुद्धि नहीं होती। भक्तकी दोनोंमें ही समबुद्धि रहती है। साधारण मनुष्य अपनी स्तुति-प्रशंसा चाहते हैं—यहाँतक कि मरनेके बाद भी नामकी कीर्ति चाहते हैं। इसलिये वे अपनी निन्दा सुनकर दुःखी एवं स्तुति सुनकर सुखी हुआ करते हैं। साधक निन्दा सुनकर सावधान होता है और स्तुति सुनकर लज्जित होता है। पर सिद्ध भक्तका नाममें

अपनापन न रहनेके कारण वह इन दोनों भावोंसे रहित है, अर्थात् निन्दा-स्तुतिमें सम होता है; किंतु वह भी लोकसंग्रहके लिये साधककी तरह बर्ताव कर सकता है।

चौदहवें अध्यायके २४वें श्लोकमें 'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' पदसे गुणातीत पुरुषके लिये भी यह कहा गया कि वह निन्दा-स्तुतिमें सम होता है। वह पुरुष अपने स्वरूपमें अर्थात् चिन्मयतामें स्थित होता है। इसलिये जड नाम और शरीरकी निन्दा-स्तुतिका उसपर असर पड़नेका कोई कारण ही नहीं रहता; क्योंकि आत्मस्वरूपमें एक चेतनके सिवा जडताका अत्यन्ताभाव है।

भगवद्भक्तकी सर्वत्र भगवद्बुद्धि होनेके कारण निन्दा-स्तुति करनेवालोंमें भेदभाव नहीं रहता। अतः उसे निन्दा-स्तुतिमें सम कहा गया है।

मौनी=मननशील है,

सिद्ध भक्तके द्वारा परमात्माके स्वरूपका स्वतः स्मरण-मनन होता है, करना नहीं पड़ता। जो भी वृत्ति उसके अंदर आती है, उसमें उसे 'वासुदेवः सर्वम् इति' (गीता ७।१९)— सब कुछ भगवान् है—यही दीखता है। फलतः उसके द्वारा निरन्तर ही भगवानका मनन होता है।

'मौनी'का अर्थ 'वाणीका मौन रखनेवाला' नहीं लिया जा सकता; क्योंकि ऐसा अर्थ लेनेसे वाणीके द्वारा भक्तिका प्रचार करनेवाले भक्त भक्त ही नहीं रहेंगे। इसके अतिरिक्त वाणीका संयम करनेमात्रसे यदि भक्त बनना सम्भव होता तो भक्त बनना बहुत ही सहज हो जाता और ऐसे भक्त बहुत बन जाते; किंतु संसारमें भक्तोंकी संख्या अधिक देखनेमें नहीं आती। इसलिये 'मौनी' पदका अर्थ 'भगवत्स्वरूपका मनन करनेवाला' ही लिया जाना उपयुक्त प्रतीत होता है।

पाँचवें अध्यायके छठे श्लोकमें तथा २८वें श्लोकमें 'मुनिः' पदोंसे साधकको परमात्माके स्वरूपका मनन करनेवाला बताया गया है।

दूसरे अध्यायके ५६वें श्लोकमें 'मुनिः' पदसे सिद्ध कर्मयोगीकी मननशीलताका लक्ष्य कराया गया है।

दसवें अध्यायके ३८वें श्लोकमें 'मौनम्' पद वाणीके मौनका निर्देश करता है तथा सत्रहवें अध्यायके १६वें श्लोकमें 'मौनम्' पद मनकी तपस्याके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

येन केनचित् संतुष्टः=जिस-किसी प्रकारसे भी (शरीरका निर्वाह होनेमें) सदा ही संतुष्ट रहनेवाला,

दूसरे लोगोंको तो भक्त 'येन केनचित् संतुष्टः' अर्थात् प्रारब्धानुसार शरीर-निर्वाहके लिये जो कुछ मिल जाय, उसीमें

संतुष्ट दीखता है; किंतु भक्तकी संतुष्टिका हेतु कोई भी बाहरी पदार्थ नहीं होता; नित्य-निरन्तर उसका एकमात्र परमात्मामें ही प्रेम होनेके कारण वह परमात्मामें ही नित्य संतुष्ट रहता है। अनुकूल-प्रतिकूल ऋतु, काल, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिके संयोग-वियोगका ज्ञान होनेपर भी भक्त सदा एक ही स्थितिमें रहता है; क्योंकि वह इन सबको भगवान्‌की लीला समझता है। उस स्थायी एवं स्वाभाविक संतुष्टिको बतलानेके लिये ही यहाँ इन पदोंका प्रयोग किया गया है।

दूसरे अध्यायके ५५वें श्लोकमें 'आत्मनि एव आत्मना तुष्टः' पद, तीसरे अध्यायके १७वें श्लोकमें 'आत्मतृप्तः' एवं 'आत्मनि एव च संतुष्टः' पद, चौथे अध्यायके २०वें श्लोकमें 'नित्यतृप्तः' पद, छठे अध्यायके २०वें श्लोकमें 'आत्मनि तुष्यति' पद और इसी (बारहवें) अध्यायके १४वें श्लोकमें 'सततं संतुष्टः' पद इसी प्रकारकी संतुष्टिका बोध करानेके लिये प्रयुक्त हुए हैं।

अनिकेतः=रहनेके स्थानमें और शरीरमें भी ममतासे रहित

जिनके घर नहीं हैं, वे ही 'अनिकेत' हों—ऐसी बात नहीं है। गृहस्थ हों चाहे साधु-संन्यासी, जिनकी अपने रहनेके स्थानमें आसक्ति-ममता नहीं है, वे सभी 'अनिकेत' हैं। शरीरमें तथा रहनेके स्थानमें भक्तकी आसक्ति एवं अपनापन नहीं रहते; इसलिये वे 'अनिकेत' कहे जाते हैं।

स्थिरमतिः=और स्थिर बुद्धिवाला है,

भक्तकी बुद्धिमें परमात्म-तत्त्वकी सत्ता और स्वरूपके सम्बन्धमें कोई संशय अथवा विपर्यय (विपरीत ज्ञान) नहीं होता। अतः उसकी बुद्धि परमात्मासे कभी, किसी भी अवस्थामें विचलित नहीं होती। इसीलिये वह 'स्थिरमति' कहा गया है।

'स्थिरमति' होनेमें कामना ही बाधक होती है (गीता २ । ४२–४४); अतः कामनाओंके त्यागसे ही 'स्थिरमति' होना सम्भव है (गीता २ । ५५)। अन्तःकरणमें विषयोंकी कामना एवं देहाभिमान रहनेके कारण ही, बाहरी पदार्थोंकी सत्ताका बुद्धिके विचारमें अभाव होते हुए भी, उन पदार्थोंमें आसक्ति हो जाती है। उदाहरणके लिये सिनेमामें देखे जानेवाले तथा पुरानी बातोंको याद करते समय मानसिक नेत्रोंके सामने प्रकट हुए प्राणी-पदार्थोंकी सत्ताके अभावका विचारद्वारा निश्चय होनेपर भी हृदयमें राग रहनेसे उनके प्रति आसक्ति होती हुई देखी जाती है। कामना-आसक्तिसे संसारकी स्वतन्त्र सत्ता दृढ़ होती है। भगवान्‌से पृथक् संसारकी स्वतन्त्र सत्ता मिटानेके लिये यह आवश्यक है कि संसारमें कहीं आसक्ति-कामना न रहे। आसक्ति-कामनाके मिटनेसे ही संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव होकर एक परमात्मामें स्थिर-बुद्धि होनी सम्भव है।

भक्तिमान् नरः मे प्रियः=वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।

भगवान्‌में अत्यधिक प्रेम होनेके कारण स्वाभाविक ही भगवान्‌का स्मरण-मनन-जप-ध्यानादि होता है। उपर्युक्त स्मरणादिरूप भक्तिसे युक्त पुरुषको भगवान् अपना प्यारा बतलाते हैं।

विशेष बात

सिद्ध भक्तोंके लक्षण स्वसंवेद्य हैं। उनके बाहरी व्यवहारसे उन्हें कोई नहीं पहचान सकता कि वे परमात्माके अत्यन्त समीप पहुँचे हुए साधक भक्त हैं या सिद्ध भक्त। सभी सिद्ध भक्तोंमें राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विकारोंका अत्यन्ताभाव, समता तथा परमशान्ति स्वतः रहती है; अपनी स्वतन्त्र सत्ताका भाव किसीमें भी नहीं होता। सिद्ध भक्तमें भगवान्‌के सिवा किसीको अपना न माननेसे अहंता-ममता आदि रहते नहीं। उसमें अवगुणोंका सर्वथा अभाव रहता है; कारण, गुण तो सभी दैवी सम्पदाके अन्तर्गत हैं, अतः वह उन्हें दैव (भगवान्‌के) मानता है तथा यावन्मात्र अवगुण संसारके साथ राग-द्वेषयुक्त सम्बन्ध माननेसे होते हैं और राग-द्वेषका सर्वथा अभाव भक्तमें स्वाभाविक ही होता है। भगवान्‌के प्रति स्वाभाविक प्रियता भी सभीमें होती है। किसी भी प्राणीका अनिष्ट अथवा अहित किसी सिद्ध भक्तसे होता ही नहीं; किंतु स्वभाव, सङ्ग, साधन, स्वाध्याय, वर्ण-आश्रम आदिकी भिन्नताके कारण उपर्युक्त गुणोंके अतिरिक्त अन्य गुणोंमें तारतम्य रह जाता है। उस तारतम्यकी ओर लक्ष्य करानेके लिये ही सिद्ध भक्तोंके

लक्षणोंको १३वें श्लोकसे १९वें श्लोकतक पाँच अलग-अलग प्रकरणोंमें कहा गया है। पाँचों प्रकरण स्वतन्त्र हैं। इनमेंसे किसी एक प्रकरणके भी सभी लक्षण जिसमें पूर्ण हों, वही 'सिद्ध भक्त' है। यह आवश्यक नहीं कि पाँचों प्रकरणोंके लक्षणोंका किसी एक भक्तमें पूर्णरूपेण समावेश हो।

भगवान्‌ने पहले प्रकरणके अन्तर्गत १३वें तथा १४वें श्लोकोंमें सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करके अन्तमें 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः' कहा; दूसरे प्रकरणके अन्तर्गत १५वें श्लोकके अन्तमें 'यः स च मे प्रियः' कहा; तीसरे प्रकरणके अन्तर्गत १६वें श्लोकके अन्तमें 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः' कहा; चौथे प्रकरणके अन्तर्गत १७वें श्लोकके अन्तमें 'भक्तिमान् यः स मे प्रियः' कहा और अन्तिम पाँचवें प्रकरणके अन्तर्गत १९वें श्लोकके अन्तमें 'भक्तिमान् मे प्रियो नरः' कहा। इस प्रकार भगवान्‌ने पाँच बार पृथक्-पृथक् 'प्रिय' शब्द देकर भक्तोंको पाँच पृथक् श्रेणियोंमें विभक्त कर दिया।

ये सभी भक्त भगवान्‌में प्रेम होनेके कारण ही भगवान्‌को प्रिय हैं। दैवी सम्पत्तिके गुण दैव (भगवान्‌के) होनेके नाते भक्तमें स्वाभाविक हो आ जाते हैं।

सभी प्रकरणोंके अन्तर्गत सिद्ध भक्तके लक्षणोंमें राग-द्वेष, हर्ष-शोकके अभावकी बात कही गयी है। पहले प्रकरणमें

'अद्वेष्टा'से द्वेषका, 'निर्ममः'से रागका और 'समदुःखसुखः'से हर्ष-शोकका अभाव बताया गया है। दूसरे प्रकरणमें हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगके अभावका उल्लेख किया गया है। तीसरे प्रकरणमें 'अनपेक्षः' से रागका, 'उदासीनः' से द्वेषका और 'गतव्यथः' से हर्ष-शोकके अभावका निरूपण किया गया है। चौथे प्रकरणमें 'न काङ्क्षति' से रागका, 'न द्वेष्टि' से हर्षका, और 'न हृष्यति' तथा 'न शोचति' से हर्ष-शोकका अभाव कहा गया है। अन्तिम पाँचवें प्रकरणमें 'सङ्गविवर्जितः' से रागका, 'संतुष्टः' से एकमात्र परमात्मामें ही संतुष्ट रहनेके फलस्वरूप द्वेषका अभाव और 'शीतोष्णसुखदुःखेषु समः' से हर्ष-शोकका अभाव निरूपित किया गया है। यदि सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका निरूपण करनेवाला सातों श्लोकोंका एक ही प्रकरण होता तो सिद्ध भक्तमें राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विकारोंके अभावकी बातको कहीं शब्दोंसे और कहीं भावसे बार-बार कहनेकी आवश्यकता नहीं थी। तथा १४वें और १९वें श्लोकोंमें 'संतुष्टः' पदका भी सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें दो बार प्रयोग हुआ है, जिससे पुनरुक्तिका दोष आता है। भगवान्‌के वचनोंमें पुनरुक्तिका दोष आये, यह सम्भव ही नहीं। अतः सातों श्लोकोंके विषयको एक प्रकरण मानना उचित नहीं, बल्कि अलग-अलग प्रकरण मानना ही उचित है।

साधकोंमें साधन, स्वभाव और संस्कार आदिके कारण गुणोंका तारतम्य रहता है। किसीमें हर्ष, किसीमें राग, किसीमें

भय, किसीमें अमर्ष आदि अवगुणोंका विशेषतासे प्रादुर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। भगवान्‌ने सिद्ध भक्तके लक्षणोंका गुणोंके तारतम्यको लेकर पाँच प्रकरणोंमें विभाग किया। इस विभाजनका आशय ऐसा प्रतीत होता है कि साधककी अपनी रुचि, योग्यता एवं स्वभावके अनुरूप सिद्ध भक्तके जो लक्षण जिस प्रकरणमें मिलेंगे, उसको आदर्श मानकर उसी प्रकरणमें दिये हुए लक्षणोंके अनुसार सिद्ध बननेमें उसका तेजीके साथ उत्साह होगा।

सम्बन्ध

पूर्वके सात श्लोकोंमें सिद्ध भक्तोंके ३९ लक्षण बतलानेके बाद, जिन साधकोंको लेकर पहले श्लोकमें अर्जुनने प्रश्न किया था, उस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने भक्तोंकी बात कहनेके लिये जिस प्रसङ्गका उपक्रम किया था, उन भक्त साधकोंकी बात कहकर उसी प्रसङ्गका यहाँ उपसंहार करते हैं—

श्लोक

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥२०॥

भावार्थ

मुझमें अत्यन्त श्रद्धा करके मेरे परायण हुए साधक भक्त, सिद्ध भक्तोंके लक्षण-समुदायरूप धर्मयुक्त अमृतमय उपदेशको, जो भगवान्‌द्वारा सात श्लोकोंमें (१३वेंसे १९वें श्लोकतक)

कहा गया है, ठीक उसी प्रकार अपनेमें उतारनेकी चेष्टा करते हैं। भगवान् कहते हैं—ऐसे साधक भक्त मुझे अत्यन्त प्यारे हैं; क्योंकि मेरा साक्षात् अनुभव हुए बिना भी वे मुझपर प्रत्यक्षकी भाँति विश्वास करके साधन करते हैं। उनकी दृष्टिमें सांसारिक धन-मान-बड़ाई आदिका महत्त्व रहनेपर भी वे उनको महत्त्व नहीं देते, अपितु मेरी उपासनाको ही महत्त्व देते हैं और मेरे ही परायण रहते हैं।

अन्वय

तु ये मत्परमाः श्रद्दधानाः इदम् यथोक्तम् धर्म्यामृतम् पर्युपासते ते भक्ताः मे अतीव प्रियाः ॥ २० ॥

तु=और

इस 'तु' पदका गीतामें प्रकरणको अलग करनेके लिये प्रयोग किया गया है। यहाँ सिद्ध भक्तोंसे साधकोंके प्रकरणको अलग करनेके लिये 'तु' पदका प्रयोग हुआ है।

ये=जो

इस पदसे भगवान्‌ने उन साधक भक्तोंका निर्देश किया है, जिन साधकोंके विषयमें अर्जुनने पहले श्लोकमें प्रश्न किया था। उसी प्रश्नके उत्तरमें, दूसरे श्लोकमें सगुणकी उपासना करनेवाले साधकोंको भगवान्‌ने अपने मतमें 'युक्ततम' बतलाया। फिर उसी (सगुण-उपासना)का साधन बतलाया; तत्पश्चात्

सिद्ध भक्तोंके लक्षण बतलाकर अब उसी प्रसङ्गका उपसंहार करते हैं।

१३वें श्लोकसे १९वें श्लोकतक सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन हुआ। यहाँ 'ये' पद परम श्रद्धालु भगवत्परायण साधकोंके लिये आया है, जो उन लक्षणोंको आदर्श मानकर साधन करते हैं और जिनको भगवान्‌ने इसी श्लोकमें अपना 'अत्यन्त प्यारा' कहा है।

मत्परमाः=मेरे परायण हुए—अर्थात् वे साधक, जिनकी दृष्टिमें भगवान् ही परमोत्कृष्ट हैं—

साधक भक्त सिद्ध भक्तोंको अत्यन्त पूज्यभाव और सम्मान्य दृष्टिसे देखते हैं। उनको उनके गुणोंमें श्रेष्ठ बुद्धि होती है। अतः वे उनको आदर्श मानकर आदरपूर्वक अपनेमें लानेकी चेष्टा करते हैं। भगवान्‌का चिन्तन होनेसे और भगवान्‌पर ही निर्भरता रहनेसे वे सारे गुण उनमें स्वतः आ जाते हैं। अतः वे परमात्माके ही परायण होते हैं।

श्रद्दधानाः=श्रद्धायुक्त पुरुष

सिद्ध भक्तोंको भगवत्प्राप्ति हुई रहनेसे उनके लक्षणोंमें श्रद्धाकी बात नहीं आती, क्योंकि उनको तो भगवान् प्रत्यक्ष प्राप्त हैं। जबतक तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती, तभीतक श्रद्धा आवश्यक है। अतः यह पद श्रद्धालु साधक भक्तोंका ही वाचक है। ऐसे

श्रद्धालु साधक भक्त भगवान्‌के परायण होकर ऊपर दिये गये भगवान्‌के धर्मयुक्त अमृतरूप उपदेशको भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे ही अपनेमें उतारनेकी चेष्टा किया करते हैं।

सभी मार्गोंके साधकोंमें विवेककी बड़ी आवश्यकता है। विवेक होनेसे ही साधनमें तीव्रता आती है। यद्यपि यह बात ठीक है कि भक्तिके साधनमें श्रद्धा और प्रेमकी मुख्यता है और ज्ञानके साधनमें विवेककी, तथापि इसका यह अभिप्राय नहीं कि भक्तिमार्गके साधनमें विवेकको और ज्ञानके साधनमें श्रद्धाकी आवश्यकता ही नहीं है। भक्तियोग और ज्ञानयोग दोनों ही साधनोंमें श्रद्धा और विवेक दोनों ही सहायक हैं। यहाँ 'श्रद्दधानाः' पद भक्तिमार्गके साधकोंके लिये आया है।

इदम्=इस
यथा उक्तम् धर्म्यामृतम्=ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको

१३वेंसे १९वें श्लोकतक सिद्ध भक्तोंके ३९ लक्षणोंका समुदाय धर्ममय है, धर्मसे ओत-प्रोत है। उसमें अधर्मका किंचित् भी अंश नहीं है।

प्रत्येक प्रकरणके पूर्ण लक्षण धर्म्यामृत हैं। पाँचों प्रकरणों-के लक्षण-समुदायको सेवन करना भी बहुत अच्छा है, परंतु साधक जिस प्रकरणके पूर्ण लक्षणोंको आदर्श मानकर साधन करता है, उसके लिये वही धर्म्यामृत है।

जिस साधनमें साधन-विरोधी अंश सर्वथा नहीं होता, वह साधन अमृततुल्य होता है। जिसमें साधन-विरोधी अंश रहता है, वह साधन आंशिक अमृत है। ऊपर कहे हुए साधन-समुदायमें साधन-विरोधी कोई बात न होनेसे इसे 'धर्म्यामृत'की संज्ञा दी गयी है।

साधनमें साधन-विरोधी कोई भी बात न होते हुए भी जैसा ऊपर कहा गया है, ठीक वैसा-का-वैसा ही धर्ममय अमृतका सेवन तभी होगा, जब साधकका उद्देश्य आंशिक रूपसे भी धन, मान, बड़ाई, आदर, सत्कार, संग्रह और सुख-भोगादि न होकर एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही होगा।

'धर्म्यामृत'के जो लक्षण बतलाये गये हैं—जैसे अद्वेष्टा, मैत्रः, करुणः आदि, वे आंशिक रूपसे साधकमात्रमें रहते हैं तथा इनके साथ-साथ दुर्गुण-दुराचार भी रहते हैं। साधक सत्सङ्ग करता है तथा साथमें कुसङ्ग भी होता रहता है; वह संयम करता है, किंतु साथ-ही-साथ रागपूर्वक सांसारिक भोग भी भोगता रहता है। साधकोंमें इस प्रकार गुण-अवगुण दोनों साथ रहते हैं। जबतक गुणोंके साथ अवगुण रहेंगे, तबतक सिद्धि नहीं होगी। अवगुण साथमें रहनेसे गुणोंका अभिमानरूप प्रमुख अवगुण भी साथ रहता है। वास्तवमें गुण सर्वथा दोषरहित होने चाहिये। इसीलिये 'धर्म्यामृत'का सेवन करनेके लिये यह कहा गया है कि इसका ठीक वैसा-का-वैसा पालन होना चाहिये,

जैसा कि वर्णन किया गया है। यदि 'धर्म्यामृत'के सेवनमें साथ-ही-साथ दोष भी रहेंगे तो तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी। साधकको विशेष सावधान रहना चाहिये कि दुर्गुण-दुराचार उसमें न रहें। यदि साधनमें किसी कारणको लेकर आंशिक रूपसे कोई दोषमय वृत्ति उत्पन्न हो जाय तो उसकी अवहेलना न करके तत्परतासे उसे हटानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

जितने सद्गुण-सदाचार-सद्भाव आदि हैं, वे सब-के-सब सत् (परमात्मा)पर अवलम्बित हैं। दुर्गुण-दुराचार-दुर्भाव आदि सब असत्के सम्बन्धसे ही होते हैं। एक ओर दुराचारी-से-दुराचारी पुरुषमें भी सद्गुण-सदाचारोंका सर्वथा अभाव नहीं होता; क्योंकि जीव नित्य और परमात्माका अंश है, उसका सत् (परमात्मा)से सदासे सम्बन्ध है और सदा ही रहेगा; और परमात्माके साथ सम्बन्ध रहनेके कारण किसी-न-किसी अंशमें उसमें सद्गुण-सदाचार रहेंगे ही। दूसरी ओर सत् (परमात्मा) की प्राप्ति होनेपर असत्के साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेके कारण दुर्गुण-दुराचार-दुर्भाव आदि कभी नहीं रह सकते।

सद्गुण भागवत-सम्पत्ति हैं। इसलिये साधक जितना-जितना भगवान्के सम्मुख होता जायगा, उतने अंशमें उसमें सद्गुण-सदाचार-सद्भाव आते जायँगे एवं दुर्गुण-दुराचार-दुर्भाव नष्ट होते जायँगे।

सिद्ध महापुरुषोंके अन्तःकरणमें राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि रहते ही नहीं। राग-द्वेष, काम-क्रोधादि अन्तःकरणके धर्म नहीं, विकार हैं। गीतामें भी तेरहवें अध्यायके छठे श्लोकमें 'इच्छा द्वेषः' पदोंसे राग-द्वेषादिको क्षेत्रका विकार बताया गया है। धर्म धर्मीके साथ सदा रहते हैं, जैसे जलके साथ शीतलता। धर्मीके रहते हुए धर्म मिट नहीं सकते। काम-क्रोधादि विकार आगन्तुक हैं; क्योंकि अन्तःकरणके रहते हुए भी साधन करनेपर ये कम होते हैं, ऐसा साधकोंका प्रत्यक्ष अनुभव है। अतः ये अन्तःकरणके धर्म नहीं, किंतु आगन्तुक विकार हैं। जितने अंशमें अन्तःकरणमें विकार विद्यमान हैं, उतने अंशमें वह साधक है, सिद्ध नहीं। साधक भी जितना-जितना परमात्माकी ओर अग्रसर होता है, उतनी उतनी दूरतक उसके राग-द्वेष, काम-क्रोधादि विकार मिटते जाते हैं एवं शेष सीमातक पहुँचनेपर उन विकारोंका अत्यन्ताभाव हो जाता है। यदि राग-द्वेषादि विकार अन्तःकरणके धर्म होते तो फिर जबतक अन्तःकरण है, तबतक राग-द्वेषादि विकार रहने ही चाहिये। किंतु जब इन विकारोंका साधकोंमें भी नाश होता चला जाता है, तब फिर ये अन्तःकरणके धर्म कैसे हो सकते हैं?

गीतामें स्थान-स्थानपर—जैसे दूसरे अध्यायके ६४वें श्लोकमें 'रागद्वेषवियुक्तैस्तु' सोलहवें अध्यायके २२वें श्लोकमें "एतैः विमुक्तः' एवं अठारहवें अध्यायके ५१वें श्लोकमें 'रागद्वेषौ

च्युदस्य च' पदोंसे भगवान्ने साधकोंको इन राग-द्वेषादि विकारोंसे सर्वथा मुक्त होनेके लिये आदेश दिया है। यदि ये अन्तःकरणके धर्म होते तो अन्तःकरणके रहते हुए इनका त्याग असम्भव होता। असम्भव बातको करनेके लिये भगवान् आदेश कैसे दे सकते हैं।

गीतामें सिद्ध महापुरुषोंको राग-द्वेष, काम-क्रोधादि विकारोंसे मुक्त बताया गया है—जैसे इसी अध्यायके १५वें श्लोकमें 'हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः' पदोंसे भक्तको भगवान्ने राग-द्वेष एवं हर्ष-शोकसे मुक्त बताया है। इसलिये भी ये विकार ही सिद्ध होते हैं। असत्से सर्वथा विमुख होनेके कारण उन सिद्ध महापुरुषोंमें ये विकार लेशमात्र भी नहीं रहते। ये विकार अन्तःकरणमें रहें तो वह मुक्त किनसे हुआ।

जिसमें लेशमात्र भी ये विकार नहीं हैं, ऐसे सिद्ध महापुरुषके अन्तःकरणके लक्षणोंको आदर्श मानकर भगवत्प्राप्त्यर्थ सेवन करनेके लिये भगवान्ने उक्त लक्षणोंको यहाँ 'धर्म्यामृत'के नामसे कहा है।

दूसरे अध्यायके ३१वें श्लोकमें 'धर्म्यात्' पद और ३३वें श्लोकमें 'धर्म्यम्' पद धर्ममय युद्धके लिये प्रयुक्त हुए हैं।

नवें अध्यायके २रे श्लोकमें 'धर्म्यम्' पदसे ज्ञान-विज्ञानको धर्ममय बताया गया है।

अठारहवें अध्यायके ७०वें श्लोकमें 'धर्म्यम्' पदसे भगवान् और अर्जुनके गीतामें कहे हुए संवादको धर्ममय कहा गया है।

नवें अध्यायके १९वें श्लोकमें 'अमृतम्' पदसे भगवान्‌ने अमृतको अपनी विभूति बताया है।

दसवें अध्यायके १८वें श्लोकमें 'अमृतम्' पदसे अर्जुनने भगवान्‌के वचनोंको अमृतमय बताया है।

तेरहवें अध्यायके १२वें श्लोकमें और चौदहवें अध्यायके २०वें श्लोकमें 'अमृतम्' पद परमानन्दका वाचक है।

चौदहवें अध्यायके २७वें श्लोकमें 'अमृतस्य' पद भगवत्स्वरूपका वाचक है।

पर्युपासते=भलीभाँति सेवन करते हैं,

सिद्ध भक्तोंके गुणोंकी ओर साधक भक्तोंकी आदरबुद्धि होती है। वे प्रेम और श्रद्धापूर्वक भगवान्‌का भजन करना चाहते हैं। उनकी दृष्टिमें भगवान्‌के प्यारे सिद्ध भक्त अत्यन्त आदरके पात्र हैं। अतः उन महापुरुषोंमें रहनेवाले गुणोंके प्रति उनका स्वाभाविक ही आदर होता है। ऐसे श्रेष्ठ गुणोंको वे साधक भक्त आदरपूर्वक अपनेमें उतारना चाहते हैं। यही उन गुणोंकी साधक भक्तोंद्वारा भलीभाँति उपासना है।

यद्यपि भक्तोंमें भगवान्‌के ही प्रति स्वाभाविक आकर्षण होता है। उसके प्रभावसे उनमें दैवी-सम्पत्ति अर्थात् सद्गुण भगवान्‌के होनेसे स्वाभाविक आ जाते हैं। परंतु साधकोंका भगवान्‌के प्यारे भक्त होनेके कारण उन सिद्ध महापुरुषोंके गुणोंके प्रति भी स्वाभाविक आदर होता है।

पूर्वके सात श्लोकोंमें 'धर्म्यामृत'का जिस रूपमें वर्णन किया गया है, ठीक उसी रूपमें श्रद्धासे युक्त होकर भलीभाँति सेवन करनेके अर्थमें यहाँ 'पर्युपासते' पद प्रयुक्त हुआ है। भलीभाँति सेवनका तात्पर्य यही है कि साधकमें अवगुण किंचिन्मात्र भी नहीं रहने चाहिये। उदाहरणके लिये, करुणाका भाव सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति चाहे पूर्णरूपसे न हो, किंतु किसी भी प्राणीके प्रति अकरुणा अर्थात् निर्दयताका भाव किंचित् भी नहीं रहना चाहिये। साधकोंमें ये लक्षण साङ्गोपाङ्ग नहीं होते। इसलिये उन्हें इनका सेवन करनेके लिये कहा गया है। साङ्गोपाङ्ग लक्षण होनेपर वे सिद्धकोटिमें आ जायँगे।

भगवान्‌की प्राप्तिके लिये साधकमें इच्छा, चटपटी, तीव्र उत्कण्ठा और व्याकुलता होनेसे उसके अवगुण अपने आप मिट जाते हैं। उसके द्वारा भगवत्प्राप्तिका साधन अपने आप होता है। इस प्रकार साधन होनेपर भगवत्प्राप्ति बहुत शीघ्रता और सुगमतासे हो जाती है।

ते=वे

भक्ताः=भक्त

भक्तिमार्गपर चलनेवाले साधकोंके लिये यहाँ 'भक्ताः' पद प्रयुक्त हुआ है। भगवान्‌ने ग्यारहवें अध्यायके ५३वें श्लोकमें वेदाध्ययन, तप, दान, यज्ञ आदिसे अपना दर्शन दुर्लभ बतलाकर, ५४वें श्लोकमें अनन्यभक्तिसे अपना दर्शन सम्भव बतलाया एवं ५५वें श्लोकमें अपने भक्तके लक्षणोंके रूपमें अनन्यभक्तिके स्वरूपका वर्णन किया। इसपर इसी (बारहवें) अध्यायके पहले श्लोकमें उस अनन्यभक्तिका उद्देश्य रखनेवाले साधकोंकी उपासना कैसी होती है—इसके सम्बन्धमें अर्जुनने प्रश्न किया। उक्त प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने दूसरे श्लोकमें उन्हीं साधकोंको श्रेष्ठ बतलाया है, जो भगवान्‌में मन लगाकर अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उनकी उपासना करते हैं। उन्हीं साधकोंका वर्णन यहाँ उपसंहारमें 'भक्ताः' पदसे हुआ है।

मे अतीव प्रियाः=मुझे अतिशय प्रिय हैं।

जिन साधकोंको २रे श्लोकमें 'युक्ततमाः' कहा गया है, छठे अध्यायके ४७वें श्लोकमें जिनके समुदायको 'युक्ततमः' बताया गया है, उन्हीं साधकोंको यहाँ भगवान्‌ने अपना अत्यन्त प्यारा बतलाया है। अत्यन्त प्यारा बतलानेमें हेतु निम्नाङ्कित हैं—

(१) सिद्ध भक्तोंको तो तत्त्वका अनुभव अर्थात् भगवत्-साक्षात्कार हो गया रहता है, किंतु साधक भक्तोंको भगवत्-साक्षात्कार न होनेपर भी वे श्रद्धापूर्वक भगवान्‌के परायण होते हैं। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'मुझपर ही श्रद्धा-विश्वास करनेवाले होनेके कारण वे मुझे अत्यन्त प्यारे हैं।'

(२) सिद्ध भक्त तो भगवान्‌के बड़े लड़केकी तरह हैं—

'मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी।

(रा० च० मा०, ३ । ४२ । ४)

जब कि साधक भक्त भगवान्‌के छोटे लड़केकी तरह हैं—

'बालक सुत सम दास अमानी॥'

(वही, ३ । ४२ । ४)

छोटा बालक स्वतः ही सबको प्यारा लगता है। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'वे मुझे अतिशय प्यारे हैं।'

(३) भगवान् कहते हैं कि 'सिद्ध भक्तको तो दर्शन देकर मैं उऋण हो जाता हूँ, किंतु साधक भक्त तो अभी साधन करते हैं, सरल विश्वाससे मुझपर निर्भर हैं। अतः अपनी प्राप्ति न करानेके कारण उनसे अभीतक मैं उऋण नहीं हुआ हूँ। इसलिये भी वे मुझे अत्यन्त प्यारे हैं।'

(४) पूर्वोक्त सात श्लोकोंके अन्तर्गत पाँच प्रकरणोंमें सिद्ध भक्तोंके लक्षण बतलाकर—प्रत्येक प्रकरणके पूर्ण लक्षण

जिसमें विद्यमान हैं, उस भक्तको उस-उस प्रकरणके अन्तमें भगवान्‌ने अपना प्यारा बतलाया, किंतु साधक भक्त तो उन पाँचों प्रकरणोंमें आये हुए लक्षणोंका भगवत्प्राप्तिके लिये अनुष्ठान करता है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि 'वे मुझे अतिशय प्यारे हैं।'

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो
नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें भक्तियोग नामक बारहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ॥१२॥

ॐ, तत्, सत्—ये भगवान्‌के पवित्र नाम हैं (गीता १७ । २३)। स्वयं श्रीभगवान्‌के द्वारा गायी जानेके कारण इसका नाम 'श्रीमद्भगवद्गीता' है। इसमें उपनिषदोंका सार-तत्त्व संगृहीत है और यह स्वयं भी उपनिषद् है—इससे इसको 'उपनिषद्' कहा गया है। निर्गुण-निराकार परमात्माके परम तत्त्वका साक्षात्कार करानेवाली होनेके कारण इसका नाम 'ब्रह्मविद्या' है और जिस कर्मयोगको 'योग' नामसे कहा जाता है, उस निष्कामभावपूर्ण कर्मयोग-तत्त्वका इसमें उपदेश होनेके कारण यह 'योगशास्त्र' है। यह साक्षात् परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण और भक्तवर अर्जुनका संवाद है तथा इस बारहवें अध्यायमें अनेक प्रकारके साधनोंसहित भगवान्‌की भक्तिका वर्णन करके भगवद्भक्तों-

के लक्षण बताये गये हैं एवं इस अध्यायका उपक्रम और उपसंहार भगवद्भक्तिमें ही हुआ है; केवल तीन श्लोकोंमें ज्ञानके साधनका वर्णन है, वह भी भगवद्भक्ति और ज्ञानकी परस्पर तुलना करनेके लिये ही है; इसीसे इसके लिये 'श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम' कहा गया है।

बारहवें अध्यायके पद, अक्षर एवं 'उवाच'

(१) बारहवें अध्यायमें पद २४४ हैं, पुष्पिकामें १३ हैं और 'उवाच' आदिमें ४ पद हैं। पदोंका पूर्णयोग २६१ है।

(२) बारहवें अध्यायके श्लोकोंमें ६४० अक्षर हैं, पुष्पिकामें ४५, 'उवाच' आदिमें १३ एवं 'अथ द्वादशोऽध्यायः' के ७ अक्षर हैं। सम्पूर्ण अक्षरोंका योग ७०५ है। इस अध्यायमें सभी श्लोक ३२ अक्षरोंके हैं।

(३) बारहवें अध्यायमें दो 'उवाच' हैं—

(१) 'अर्जुन उवाच' और

(२) 'श्रीभगवानुवाच'।

बारहवें अध्यायमें आये हुए मुख्य विषय एवं अवान्तर विषय

१—७ साकार और निराकारके उपासकोंकी उत्तमताका निर्णय।

१ साकार और निराकारके उपासकोंमें कौन श्रेष्ठ है—यह जाननेके लिये अर्जुनका प्रश्न।

२ श्रीभगवान्‌द्वारा साकार स्वरूपकी उपासना करनेवालोंकी उत्तमताका कथन।

३-४ निर्गुण ब्रह्मके स्वरूपके विषयमें ५ निषेधात्मक एवं ३ विधेयात्मक विशेषण बतलाकर साधकोंके विषयमें ३ बातोंका तथा उपासनाके फलका वर्णन।

५ दोनों प्रकारकी उपासनाका निर्णय करते हुए निराकारकी उपासनामें देहाभिमानके कारण कठिनताका कथन।

६-७ श्रीभगवान्‌के साकार स्वरूपकी उपासनाकी विधिका वर्णन एवं भगवान्‌द्वारा अपने अनन्यप्रेमी उपासकोंका शीघ्र एवं स्वयं उद्धार करनेकी प्रतिज्ञा।

वारहवें अध्यायके छन्दोंपर विचार

वारहवें अध्यायमें अनुष्टुप् छन्दके श्लोक हैं। अनुष्टुप् छन्द-के प्रत्येक चरणमें आठ अक्षर होते हैं और पूरा श्लोक ३२ अक्षरों-का होता है, इनके दो भेद हैं—अनुष्टुप् गण-छन्द और अनुष्टुप् अक्षर-छन्द। गीतामें अनुष्टुप् गण-छन्द नहीं है। छन्द तीन प्रकार के हैं—सम, अर्द्धसम और विषम। गीतामें केवल अर्द्धसम अनु-ष्टुप् ही प्रयुक्त हुए हैं।

छन्दःशास्त्रमें इस अर्द्धसम अनुष्टुप् छन्दके पहले और आठवें अक्षरोंपर विचार नहीं है, वे गुरु हों या लघु—दोनों ही मान्य हैं। पहले और तीसरे चरणोंमें पहले अक्षरके वाद दूसरे, तीसरे और चौथे अक्षरोंका गण 'सगण' और 'नगण' नहीं होना चाहिये। इसी प्रकार दूसरे और चौथे चरणोंमें पहले अक्षरके वाद दूसरे, तीसरे और चौथे अक्षरोंका गण 'रगण' नहीं होना चाहिये, (पिङ्गल सूत्र ५।११, १२)।

यदि चारों चरणोंमें चौथे अक्षरके वादका गण 'यगण' होगा तो उस श्लोकके छन्दका नाम 'अनुष्टुप्वक्त्र' होगा—(पिङ्गल सूत्र ५।१४)।

पहले और तीसरे चरणोंमें चौथे अक्षरके वाद 'यगण' तथा दूसरे और चौथे चरणोंमें चौथे अक्षरके वाद 'जगण' होगा तो उसकी 'पथ्यावक्त्र' संज्ञा होगी—(पिङ्गल सूत्र ५।१५)।

गीतामें इन अनुष्टुप् छन्दके श्लोकोंके दूसरे और चौथे चरणों-में चौथे अक्षरके बाद सब जगह ही 'जगण' प्रयुक्त हुए हैं, परंतु पहले और तीसरे चरणोंमें कई श्लोकोंमें 'यगण'की जगह दूसरे गण भी आ गये हैं। उनके लिये यह नियम है कि इस प्रकार जो गण प्रयुक्त होगा, उसके नामके प्रारम्भके अक्षरके साथ 'विपुला' संज्ञा मानी जायगी। यदि केवल पहले चरणमें या केवल तीसरे चरणमें अथवा पहले और तीसरे दोनों चरणोंमें ही 'यगण'के अतिरिक्त दूसरा गण होगा तो वह श्लोक विपुलान्त संज्ञावाले छन्दका होगा। इसके अन्तर्गत एक नियम और भी है—यदि पहले और तीसरे चरणोंमें पृथक्-पृथक् गण हों तो उस श्लोकके छन्दकी संज्ञा 'संकीर्ण-विपुला' होगी। ये सब 'पथ्यावक्त्र'के ही अवान्तर भेद हैं।

बारहवें अध्यायके बीस श्लोकोंमें १७ तो ठीक 'पथ्यावक्त्र'के लक्षणोंसे युक्त हैं। नवें श्लोकके तीसरे चरणमें 'भगण' और उन्नीसवें श्लोकके तीसरे चरणमें 'नगण' प्रयुक्त हुआ है, अतः ये दो 'विपुला' संज्ञावाले श्लोक हैं। बीसवें श्लोकके पहले चरणमें 'नगण' और तीसरे चरणमें 'भगण' प्रयुक्त हुआ है, इसलिये यह एक-श्लोक 'संकीर्ण-विपुला' संज्ञक छन्दका है।

बारहवें अध्यायमें आर्ष प्रयोग

छान्दोग्योपनिषद्में इतिहास-पुराणको पाँचवाँ वेद कहा गया है—'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्' (छान्दोग्य० ७।१।२)। 'भारतं पञ्चमो वेदः'—यह उक्ति भी प्रसिद्ध है। पञ्चम वेद महाभारतके अन्तर्गत गीता स्वतःप्रमाणभूत एक उपनिषद् है। यह बात प्रत्येक अध्यायके अन्तमें दी गयी पुष्पिकाके 'भगवद्गीतासूपनिषत्सु' इन पदोंसे भी स्पष्ट हो जाती है। इस दृष्टिसे गीताका प्रत्येक श्लोक वैदिक मन्त्ररूप है। वेदमें जो मन्त्र, वाक्य अथवा छन्द जिस रूपमें उपलब्ध हैं, वे उसी रूपमें शुद्ध हैं; उनपर लौकिक अनुशासन या व्याकरणका नियम नहीं लागू हो सकता है। तथापि लौकिक अनुशासनकी दृष्टिसे भी जो प्रयोग साधु नहीं हैं या लोकमें प्रयुक्त नहीं हैं, उनके लिये वैयाकरणोंने 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' (वेदमें जैसा प्रयोग देखा गया है, उसी रूपमें वह विहित है)—यह सिद्धान्त लागू किया है। इसके सिवा लौकिक व्याकरणके सारे विधान वेदमें विकल्पसे होते हैं, जैसा कि 'सर्वे विधयश्छन्दसि वैकल्पिकाः'—इस परिभाषासे सिद्ध है।

इस परिभाषाका मूल 'षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा' (१।४।९)—यह सूत्र है। इस सूत्रमें 'वा' शब्दको अलग करके उसे स्वतन्त्र सूत्र मान लेते हैं। इस क्रियाको योगविभाग कहते हैं। 'वा' में 'छन्दसि' पदकी अनुवृत्ति होती है। फिर यह अर्थ होता है कि 'सभी विधियाँ वेदमें विकल्पसे होती हैं।'

गीतामें बारहवें अध्यायके ८वें श्लोकमें 'निवसिष्यसि' यह क्रियापद प्रयुक्त हुआ है। लौकिक व्याकरणके अनुसार 'वस्' धातु अनिट् है। उसमें 'इट्' का आगम नहीं होता। उस दशामें 'निवत्स्यसि' यह रूप होगा। परंतु पूर्वोक्त नियमके अनुसार इट्-निषेध विकल्पसे लागू होगा, अतः 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (७।२।३५) इस सूत्रसे 'इट्'का आगम होनेपर 'निवसिष्यसि' की सिद्धि हो जायगी। एवं इसी श्लोकमें प्रयुक्त 'मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः' में जो असंधि है, वह भी आर्ष है। इस अध्यायमें ये दो ही आर्ष प्रयोग हैं।

बारहवें अध्यायके श्लोकोंकी अकारादिवर्णानुक्रम-सूची

मुद्रक—गौरीशंकर प्रेस, मध्यमेश्वर, वाराणसी

श्रीहरिः

स्वामी श्रीरामसुखदासजीद्वारा विरचित पुस्तकें